स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी
स्व. रो. ता. १६-१-५७ (पौष शु. १५)

First Edition : 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samraksak Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 20-00 per copy, exclusive of postage.

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापुर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतमचन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संग्रहीत कीं कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमें स्फुट मत संचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ में ग्रीष्म कालमें सिद्धक्षेत्र श्री गजपंथाजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यके संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' इस नामकी संस्था स्थापना की। तथा उसके लिए रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी संस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः। मनःशब्देन ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमतौ श्रुते अवधौ, मनःपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात्। इष्यते च। अथवा मन शब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरि-णतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अथैवं सूत्रे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः सम्यक् लोकेषणामन्तरेण वीर्यपरिणामरूपयोगस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः। 'अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती' विपरीतार्थप्रति-पत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्मात् या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः। ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरी-तार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिर्हेतुर्वाचो धर्मो न चासौ संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात्। शब्दादिवत्। एवं तर्हि व्यलीकात्परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथा-भूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः। यां वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परि-हृतिः सा वाग्गुप्तिः। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। भाषासमितिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है। 'मन' शब्द ज्ञान-का उपलक्षण है। अतः रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन:पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी। किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है। अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है। उसकी जो रागादिसे निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन न करना वह मनोगुप्ति कही जाती है। ऐसा होने पर 'सम्यक् रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है। सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना मनोगुप्ति है।

तथा विपरीत अर्थको प्रतिपत्तिमें कारण होनेसे और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अतः विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति वचनका धर्म है और वह संवरमें कारण नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका परिणाम नहीं है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम हैं।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमें उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है वह वचन गुप्ति है। वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है। अतः वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका परिहार है और वही वचन गुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप मौन वचन-गुप्ति है। अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है। प्रेक्षापूर्वकारी होनेसे वह योग्य वचन बोले या न बोले। किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमिति है। अतः गुप्ति और

१ वाचा—अ० आ० ज०।

हितमदो होदि' शुद्ध्‌ समाहितमनिरर्थ । कथं ? 'णिरंतरं अप्पमत्ताए' निरन्तरप्रवृत्तप्रमादत्याग्ने । न हि ध्यानस्वाध्यायावसरेण गुप्तयोऽभिप्रेता इति भावः ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्रेर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहि इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहि' मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्ध्युपयोगशुद्ध्यालम्बनशुद्धिरिति चतसृ शुद्धयस्ताभिः करणभूताभिः । 'इरियदो' गच्छतः । 'मुणिणो' मुनेः । 'सुत्ताणुवीचि' सूत्रानुसारेण । 'भणिदा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासमितिः । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम असबहुलपिपीलिकादिप्रचुरता, बीजाङ्कुरतृणहरितपत्रकर्दमादिरहितता । स्फुटत्वता व्यापिता च उद्योतशुद्धिः । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुटः प्रकाशः, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाशः । पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धिः । गुरुतीर्थचैत्ययतिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणं, संयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गणं, वैयावृत्यकरणं, अनियतावासस्वास्थ्यसम्पादनं श्रमपराजयः, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनेयजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनशुद्धिः । कि तत् सूत्रानुसारिगमनं, अद्रुतं, नातिविलम्बितं, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्तिः, अदूरपादन्यासः, भयविस्मयादिरहितं नामलीलं गमनं, परिहृतलङ्घनधावनं प्रविलम्बितभुजं, निर्विकारं, अचपलमभ्रान्तमनूर्ध्वतिर्यक्प्रेक्षणं, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लवं, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजनं, विरुद्धयोनिसंक्रमणजातबाधाप्रमार्जन

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०-टी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियोंके द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमें ईर्यासमिति कही है।

मार्गमें चींटी आदि त्रस जीवोंकी अधिकताका न होना तथा बीज, अंकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड़ आदिका न होना मार्गशुद्धि है। सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है। चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नहीं होता। पैर उठाने और रखनेके देशमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है। गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रको खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशसे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोंकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोंकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लांघना दौड़ना आदि नहीं, दोनों भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

---

१. पादोद्धारवि—अ० आ० । २. मनस्थैप—अ० । मनस्यन्तर्धं आ० । मनस्युत्क्षेपं—मूलारा० ।

तीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता। सम्मतिशब्देन संस्थानाभ्युपगम उच्यते। गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केषाञ्चित् स्वतो लक्षणत्वान्नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते। अर्हन्निन्द्रः स्कन्द इत्येवमादयः सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्यं। अरिहननं, रजोहननं, इन्दनं इत्येवमादीनां क्रियाणां तत्राभावाद्व्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सर्वभावानां। तस्य च स्थापनाया वस्त्वास्तित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात्। इन्द्रादिसंज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुनः प्रवृत्ता नामसत्यं। रूपग्रहणं उपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तानां नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिकं रूपसत्यं। सम्बन्ध्यन्तरापेक्षाभिव्यक्तस्य च वस्तुस्वरूपालम्बनं दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिकं प्रतीत्यसत्यं। वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सम्भावनया वृत्तं सम्भावनासत्यं। अपि दोर्भ्यां समुद्रं तरेत्, शिरसा पर्वतं भिन्द्यात् इत्यादि। वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

---

जनपद सत्य है। जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है। यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है। अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका संकेत गाय और गजमें किया गया है। गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामें शब्द जनपद सत्य हैं।

सम्मति शब्दसे आकार विशेपकी स्वीकृति कही जाती है। जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते हैं। किन्हीमें स्वयं शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हे इन्द्र या ईश्वरके रूपमें स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको नुरेन्द्र कहना सम्मति सत्य है। किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमें अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है। मूर्तिमें स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमें अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नही पाई जाती, इसलिए उसमें असत्यपनेकी आशका नही करनी चाहिए। क्योकि सभी पदार्थ आकारमात्रमें परमार्थ माने जाते हैं। और वह आकार तदाकार स्थापनामें वस्तुरूपसे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामें उसमें उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है। रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोंका उपलक्षण है। जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है। अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना।

वस्तुमें वैसा नही होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो संभावना मूलक वचन है वह संभावना सत्य है। जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोसे समुद्र पार कर सकता है या सिरसे पर्वत तोड़ सकता है। इत्यादि। यद्यपि वर्तमान कालमें वस्तुमें वह परिणाम नही है तथापि

---

१. णत्वमा–आ०। णत्वादी–मु०। णावामी–मूलारा०।

वृतागकृत्प्रतिलेखनं, अप्रतिगारितप्रतिमार्गागतविगमद्दनं दुष्टगोबलीवर्दसारमेयादिपरिहारात्, तुषमषोभस्मार्द्रगोमयतृणनिचयजलोपलफलक, दूरीकृतचौर्यकलहं, 'अनारोहणं' सेतुषु, ईर्यासमिति ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सतां हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारां वाचमित्यभता । अलियादिदोसवज्जं असत्यता अनभाव, पारुष्य, पैशुन्यमित्यादिदोषरहितं । अणवज्जं पापास्रवो न भवति इत्यनवद्यं । वदमाणस्स वदतः । 'अणुवीचि' सूत्रानुसारेण भासासमिदी सुद्धा हवदि भाषासमिति शुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेदं निरूपयति—

जणवदसंमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'जणवदसंमदि' नानाजनपदप्रसिद्धा सुसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्य । गच्छति इति गौः, गर्ज-

---

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रोंसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और मृगोंको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यमें जानेपर उनको होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीसे अपने शरीरकी वारम्बार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल, पाषाण और लकड़ीके तख्तेसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न चढ़ना। ये सब करते हुए गमन करना ईर्यासमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते हैं—

गा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा। सज्जनोंके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं। जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे असत्यमृषा कहते हैं। इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रानुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते हैं—

गा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, सम्भावना सत्य व्यवहार सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं।

टी०—विभिन्न जनपदोंमें जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

१. सदसो–अ०। २ अनूद्र–अ०।

'आमंतणी' यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी। हे देवदत्त इत्यादि। अगृहीतसंकेतं नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसङ्केतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति द्वयात्मकता। स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी। चोदितायाः क्रियायाः करणमकरणं वापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। 'जायणी' ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोध[1] वेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् 'संपुच्छणी'। यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति। वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। 'पण्णवणी' नाम धर्म्मकथा। सा बहून्निदिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य द्विरूपा। 'पच्चक्खाणी' नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयन्तं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यान्तरमुद्दिश्य[2] तत्कुविस्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो[3] न पूर्ण इति नैकान्ततः सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्तः। 'इच्छानुलोमा य' ज्वरितेन पृष्टं घृतशर्करामिश्रं क्षीरं न शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति माधुर्यादि-

---

गा०—आमन्त्रणी, आणवणी, याचनी, संपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा।

टी०—जिस वचनसे दूसरेको बुलाया जाता है वह आमंत्रणी भाषा है। जैसे हे देवदत्त! यह वचन जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नही आता। इसलिए यह वचन सत्य भी नही है और जिसने सर्वथा संकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नही है। इस तरह यह वचन गृहीत संकेत वालेको तो प्रतीति करानेमें निमित्त होता है किन्तु जिसने संकेत ग्रहण नही किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नही होनेसे दो रूप है। 'स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है। जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तसे असत्य है। आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है। यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योंकि मांगने पर दाता दे भी सकता है और नही भी दे सकता।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नहीं? या निरोध—जेलमें आपको कष्ट है या नही? इस प्रकार पूछना संपृच्छनी भाषा है। यदि वेदना है तो सत्य है, नही है तो मिथ्या है। इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है।

धर्मकथाको पण्णवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं। यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नही करते। इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है। प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किसीने गुरुसे निवेदन किये विना 'यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया। किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो। उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञासे उसने त्यागी हुई वस्तुमें प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नही है।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—घी और शक्कर मिला

---

१. धो वेदनाया अस्ति–आ०। निरोधो वेदनास्ति–ज०। २. द्य तद्गुरुहित–ज० द्य तद्दहितगु–अ०। द्य तद्गुर्हित ग–आ०। ३. कालेन पूर्व इति–अ०। कालो न पूर्व इति–ज०।

परिणामा[1] इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदनं पच, कटं कुविन्देत्यादीनि व्यवहारसत्यं । अहिंसालक्षणो भावः पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयत्नाचारो भवेत्येवमादिकं । पल्योपमसागरोपमादिरुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ।
तव्विवरीया भासा असच्चमोसा हवे दिट्ठा ॥११८८॥

'तव्विवरीदं' सत्यविपरीतं । 'मोसं' मृषा । 'असदभिधानमनृतं' [त० सू० ७।] इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसंयमस्य वा निमित्तं वचनमसदभिधानं अप्रशस्तं तत्सत्यविपरीतं । 'तं उभयं' तत्सत्यमनृतं च उभयं । 'जत्थ' यस्मिन् वाक्ये । 'तं' तद्वाक्यं । 'सच्चमोसं' सत्यमृषेत्युच्यते । 'तव्विवरीदा भासा' सत्यादनृतान्मिश्राच्च पृथग्भूता । 'भासा' भाषा वचनं 'असच्चमोसा' असत्यमृषेति । 'हवे' भवेत् । 'दिट्ठा' दृष्टा पूर्वागमेषु । एकान्तेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यन्तरं यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं नापि अनित्यं नापि सर्वथा एकान्तयोः समुच्चयः किंतु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं । एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा सत्यादन्या भेदा[2] इष्यन्त इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो। ये दोनों परिणाम वर्तमानमें नहीं हैं क्योंकि चावल पकने पर भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी। फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार होता है। जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है। जैसे देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि। पल्योपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममें कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

गा०-टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है 'असत् कहना झूठ है।' जो वचन मिथ्याज्ञानमें, मिथ्याश्रद्धानमें और असंयममें निमित्त होता है वह वचन असत् कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है। अतः सत्यसे विपरीत है। जो वचन 'सत्य और असत्य दोनों रूप होता है वह वचन सत्यमृषा है। जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे पूर्व आगमोंमें असत्यमृषा कहा है। यह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है। जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है, न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है। उसी प्रकार यह असत्यमृषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमृषा वचनके नौ भेद दो गाथाओंसे कहते हैं—

---

१. भाविनी इद—मु०। निर्येयासं—आ० मु०। २. दा यत्र इति—अ०। दा य इति—आ०।

आदानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः। आलोक्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः। आलोकितं प्रमृष्टं च न पुनरालोकितं शुद्धं न शुद्धं वेति चतुर्थो भङ्गः। एतद्दोषचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमितिः ॥११९२॥

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि।
वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरिंतस्स ॥११९३॥

'एदेण चेव' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन। 'पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि' प्रतिष्ठापनसमितिर्वर्णिता भवति। 'वोसरणिज्जं' परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीषादिकं मलं। 'थंडिल्ले वोसरितस्स' स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्छिद्रे, समे व्युत्सृजतः ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं' एताभिः। 'सदा जुत्तो' सदा युक्तः। 'जगम्मि विहरमाणो हु' जगति विचरन्नपि। कीदृशे? 'जीवणिकायाउले' षड्जीवनिकायाकीर्णे। 'हिंसादीहिं' हिंसादिभिः। 'ण लिप्पदि' न लिप्यते साधुः। आदिग्रहणेन परितापन, संघट्टनं, अङ्गन्यूनताकरणादिपरिग्रहः। समितिषु प्रवर्तमानः प्रमादरहितः। 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युच्यते'। हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्देनोच्यन्ते। कार्ये कारणशब्दप्रवृत्तिः [1]प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वितं तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वितं तामरसपत्रं

सहसा नामक प्रथम दोष है। बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकर भी सम्य प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है। देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। इन चारों दोषोंको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेसे प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाता है। त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०-टी०—इन पाँच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिकायोंसे भरे हुए लोकमें गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता। 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोको कष्ट देना, उनका परस्परमे संघट्टन करना, उनके अंग उपांगोको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता। समितियोमे प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादसे रहित होता है। और प्रमत्तयोगसे प्राणोके घातको हिंसा कहा है। हिंसा आदिसे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते हैं। क्योंकि कार्यमें कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है। आदान निक्षेपमें निमित्त गुणोंसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चिक्कणगुणसे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमें सदा रहते हुए भी

---

1. प्रतीतिमागच्छन्। यदपि–आ०।

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते। असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तम्हा' तस्मात्। 'चेट्ठिदुकामो' गमनभाषणाद्यभिलाषी। 'जइया तइया' यदा तदा। 'तं' भवान् 'समिदो भवाहि' समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपकं। 'समिदो खु' समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्यादिषु। 'अण्णमण्णं कम्मं' अन्यद् अन्यत्। प्रत्यग्रं। 'णादियदि' नैवादत्ते। 'खवेदि पोराणं' प्राक्तनं च कर्म क्षपयति निर्जरति ॥११९८॥

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्ठपवयणमादाओ' एता अष्टप्रवचनमातृकाः 'पयदाओ' प्रयता। 'णाणदंसणचरित्तं रक्खंति' समीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुनेः। 'मादा पुत्तं व जधा' जननी पुत्रं यथा। प्रयता माता पुत्रं पालयत्यपायस्थानेभ्यः ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबन्धः। त्रयोदशविधं चारित्रं अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना। तत्र व्रतानां स्थैर्यं सम्पादयितुं भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति।

एषणासमितिर्निरूप्यते—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥१२००॥

'एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी' एसणसमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमितिः, ईर्यासमितिस्तथा मनोगुप्तिः। 'आलोयभोजणं च' आलोकभोजनं च। 'अहिंसाए' अहिंसाव्रतस्य। 'भावणा' भावनाः। 'होंति' भवन्ति।

भिक्षाकालः, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं। ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

---

गा०-टी०—यतः समितियोंका पालक पापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बँधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमें तत्पर रहो। ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते हैं। क्योंकि ईर्या आदिमें सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन-नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं करता और पूर्वमें बाँधे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोंसे रक्षा करके उसका पालन करती है। वैसे ही सम्यक्रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोंकी भावनाओंका कथन करते हैं। जो तेरह प्रकारके चारित्रकी निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है। उनमेंसे व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही हैं। उनमेंसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं। उनमेंसे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षा-काल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए। अमुक मासोंमें ग्राम नगर आदिमें अमुक

निप्पत्तिर्भवति अथवा [illegible] ...गन्तव्यं । शुद्धा मम तीव्रा मन्दा वा [illegible] आहारो मया न भोक्तव्य इति [illegible] लोकनरत [illegible] अकर्दमेनानुद्रेक [illegible] रमेषामनरुहाणां वा [illegible] वा स्वमाहारं [illegible] मार्हितफलादिक [illegible] कुर्यात् । तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचय [illegible] ऽपि न कुर्यात् । न गीतनृत्यबहुल, [illegible] शुनाकलहितकुलं वा यज्ञशाला दानशाला [illegible] परिहरेत् । दरिद्रकुलानि [illegible] नोद्घाटयेत् । बालवत्स [illegible] लिप्ता । भिक्षाचरेण [illegible]

समय भोजन बनता है अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहल्लेका अमुक समय भोजनका है। इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए। तथा मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिए। मैंने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूंगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रतासे, न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेगके बिना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ लटकते हुए हों, चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्गमें कीचड और जल न हो तथा त्रसजीवों और हरितकायसे बहुलता न हो। यदि मार्गमें गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हों तो उस मार्गसे दूर हो जाये। पक्षी और खाते पीते हुए मृग भयभीत न हों और अपना आहार छोड़कर न भागें, इस प्रकारसे गमन करे। आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरकी प्रतिलेखना करे। यदि मार्गमें आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये। तुष, गोबर, राख, भुस, और घासके ढेरमें तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये, इनपर पैर नहीं पड़ना चाहिये। कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न हो। जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डियाँ लगी हों उस घरमें न जावे। तथा मतवालोंके घरमें न जावे। शराबी, वेश्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर तथा जिन घरोंमें जानेकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, सब कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें नहीं जाये। दरिद्रकुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे। बड़े छोटे और मध्यम गृहोंमें एक साथ ही भ्रमण करे। द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उन्हें खोले नहीं। बालक, बछड़ा, मेढ़ा और कुत्तेको लाँघकर न जावे। जिस भूमिमें पुष्प, फल और बीज फैले हों उसपरसे न जावे। तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे। जिस घरपर अन्य भिक्षार्थी

स्तु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याच्ञामव्यक्तस्वनं वा स्वागमननिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वां तनुं[1] च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षां दास्यतीति अभिसंधिं न कुर्यात् । रहस्यगृहं, वनगृहं, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वारं कपाटं, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गं अवस्थानदेशं, कडुच्छुकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन[2], दूरेण, लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा दीयमानं न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादिभाजने निक्षिप्य दीयमानं वा मांसं, मधु, नवनीतं, फलं[3] अदारितं, मूलं, पत्रं, साङ्कुरं, कन्दं च वर्जयेत् । तत्संस्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसंस्पृष्टानि च[4] न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं नाभ्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमितिः ।

भिक्षाके लिए खड़े हों उस घरमें प्रवेश न करे। जिस घरके कुटुम्बी घबराये हों, उनके मुखपर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे। भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा मांगनेकी जो भूमि हो, उस भूमिसे आगे न जावे। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। बिजलीकी तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे। एकान्त घरमें, उद्यान घरमें, केले लता और झाड़ियोंसे बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामें आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे। जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे रहित स्थानमें गृहस्थोंकी प्रार्थनासे ठहरे। सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड़ा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले। चोरकी तरह द्वारमें लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेंसे न देखे। दाताके आनेके मार्ग, उसके खड़े होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोंकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे। जो स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ़, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, डरपोक, शंकालु, अति निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खड़ा है ऐसे व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे। टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। तथा कपालमें, जूठे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्ते आदिमें रखकर दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। मांस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुरित तथा कन्द ग्रहण न करे। इनसे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे। जिस भोजनका रूप रस गन्ध बिगड़ गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-जन्तु जिसमें पड़े हों उसे न तो किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

---

१. तनुं न च–अ० ज० । २. न्नेन अद्गूरे–अ० ज० मु० । ३. फलाई हरितं–अ० ।
४. चराद–अ० । च दीनाद–ज० ।

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति. । ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकितस्य अन्नस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

कोधभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥१२०१॥

क्रोधभयलोभहास्यानां प्रत्याख्यानानि चतस्र । 'अणुवीचिभासणं चेव' सूत्रानुसारेण च भाषणं। सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाच । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्वयं। क्रोधादीनामसत्यवचनकारणानां प्रत्याख्याने असत्यावाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि ।
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणणुण्णादग्गहणं' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहणं ज्ञानोपकरणादे । 'असंगबुद्धी अणुण्ण वित्ता वि' यदनुज्ञातं सम्पाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । 'एदावंतिय 'उग्गहजायणं' एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावद्याचितो यावद्गृह्णामि इति न बुद्धि. कार्या । 'उग्गहाणुस्स' ग्राह्यवस्तुजस्य इदं

नहीं चाहिये। जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नहीं खाना चाहिये। इस तरह नौ कोटियोंसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिलेखनाके योग्य हैं या नहीं, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाड़कर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे। यह आदान निक्षेपण समिति है। ईर्यासमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है। अति स्पष्ट प्रकाशमें देखकर अन्नका भोजन आलोकितभोजन है। ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना है ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं। वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य। इनमेंसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं। शेष दो नहीं बोलने चाहिये। क्रोध आदि झूठ बोलनेमें कारण होते हैं। उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिको स्वीकार न करना। स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना मिला है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। जो ग्रहण करने योग्य वस्तुका

ज्ञानसंयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञानं चारित्रं वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगि नो [1]याचतश्च ते ॥१२०२॥

वज्जणमणणुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥१२०३॥

'वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स' गृहस्वामिभिरननुज्ञातगृहप्रवेशवर्जनं भावना । 'गोयरादीसु' गोचरादिषु इदं वेश्म प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशनं । 'उग्गहजायणअणुवीचिए' अवग्रहयाचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावनाः ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसदिविकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स ॥१२०४॥

'महिलालोअणपुव्वरदिसरणससत्तवसदिविकहाहिं' स्त्रीणामालोकनं, पूर्वरतस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या वसतिः शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतयः । 'पणिदरसेहिं य विरदी' बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रतभावनाः ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा हुंति ॥१२०५॥

'अपरिग्गहस्स' परिग्रहरहितस्य । 'मुणिणो' मुनेः । सद्दफरिसरसरूवगंधेसु' शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु । मनोज्ञामनोज्ञेषु । 'रागद्दोसादीणं' रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावनाः पञ्चमस्य ॥१०२५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और संयममेंसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा चारित्रकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता। उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये घरमें प्रवेश न करना अर्थात् इस घरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच अदत्तादानविरमणव्रत की भावना हैं ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोंकी ओर देखना, पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण, स्त्रियोंसे युक्त वसतिका, शृङ्गारकथा और इन्द्रियोंमें मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका त्याग अर्थात् मनोज्ञसे राग और अमनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना पाँचवें अपरिग्रह व्रत की हैं ॥१२०५॥

---

1. नो याच्यन स्यन्ते–अ० । नो योग्य लभ्यते–ज० । ग्रहणं, इत्यस्य अग्रे पाठो नास्ति आ० ।

भाव माहात्म्यं कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

'ण करेदि खु' न करोत्येव। कः ? 'भावणाभाविदो' भावनाभिर्भावितः। 'पीडं' पीडां। 'वदाण' व्रताना। 'सव्वेसिं' सर्वेषां। 'साधू' साधुः। 'पासुत्तो' प्रकर्षेण निद्रामुपगतः। समुहदो व' समुद्धातं गतो वा। 'किमिदाणि' किमिदानीं। 'वेदितो' चेतयमानः ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमत्तो तं।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥१२०७॥

'एदाहिं' एताभिः। 'भावणाहिं' भावनाभिः। 'तम्हा' तस्मात्। 'भावेहिं' भावय। 'अप्पमत्तो तं' अप्रमत्तस्त्वं। 'अच्छिद्दाणि' अच्छिद्राणि। नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि। अखंडाणि' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'णिस्सल्लस्सेव' शल्यरहितस्यैव। शृणाति हिनस्तीति शल्यं शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशि तेन तुल्यं यत्प्राणिनो बाधानिमित्तं, अन्तर्निविष्टं परिणामजातं तच्छल्यमिह गृहीतं। 'महव्वदाइं' महाव्रतानि भवन्ति। शल्यं कस्यचिदेव व्रतस्योपघातकं, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्कां निरस्यति सर्वशब्दो। ननु च महत्त्वेन व्रतमवशेष्यं। मिथ्यात्वादिशल्यं अणुव्रतान्यपि हन्त्येव। सत्यं प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्तं।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओंसे भावित साधु गहरी नींदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोंमें दोष नहीं लगाता। तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक ! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंसे अपनेको भावित करो। इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोंके घातमें निमित्त होते हैं। अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है। जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला बाण, काँटा आदि। उनके समान जो अन्तरंगमें घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है। जैसे एषणासमिति-का अभाव अहिंसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशंका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है।

शंका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोंका भी घात करते हैं। यहाँ उन्हें महाव्रतोंका घातक क्यों कहा ?

अथ नोदं—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवन्ति । येनैव-मुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतत्प्रतिविधानायाह—'वदमुवहम्मदि' व्रतमुपहन्यते। 'तीहिं दु' तिसृभिः । 'णिदाणमिच्छत्तमायाहिं' निदानमिथ्यात्वमायाभिः । अल्पाच्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्न—मिथ्यात्वं व्रतविघातं प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्व माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपातः पश्चान्निदानशब्देन द्वन्द्वः तस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः । सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानदर्शने[1] । रत्नत्रय-त्वान्मुक्तेः अनन्तज्ञानादिकाच्चान्यत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादि-परम्परया व्रतोपघातकारि । मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं ।
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

'तत्थ' तेषु शल्येषु । 'णिदाण' निदानाख्यं शल्यं । 'तिविधं' त्रिविधं । 'होदि' भवति । 'पसत्थमप्प-सत्थभोगकदं' प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति । 'तिविधं पि तण्णिदाणं' त्रिप्रकारमपि निदानं । 'परिपंथो' विघ्नः । 'सिद्धिमग्गस्स' रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र हैं। वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है।

शंका—माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है। यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते। रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है। तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद है—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

---

१. र्शनचारित्ररत्न—आ० मु० । २. नानि प—आ० ।

प्रशस्तनिदाननिरूपणायोत्तरगाथा—

संजमहेदुं पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघडणबुद्धी ।
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ॥१२१०॥

'संजमहेदु' संयमनिमित्तं । 'पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघडणबुद्धी' [illegible], वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजः परिणामः । अस्थिबन्धविशेषः वज्रऋषभनाराचसंहननादि । [illegible] दीनि संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानं । 'सावअबंधुकुलादीणि' श्रावककुले [illegible] । [1]अदरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं ।
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ॥१२११॥

'माणेण' मानेन हेतुना । 'जातिकुलरूवमादि' जातिर्मातृवंशः, कुलं पितृवंशः, जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रहः । इह 'आइरियगणधरजिणत्तं' आचार्यत्वं गणधरत्वं, जिनत्वं । 'सोभग्गाणा-देज्जं' सौभाग्यं, आज्ञा, आदेयत्वं च । 'पत्थंतो' प्रार्थयन् । 'अप्पसत्थं तु' अप्रशस्तमेव निदानं मानकषाय-दूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—संयममें निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेषरूप वज्रऋषभनाराच संहनन आदि, ये संयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्तमें विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुलमें हो, ऐसे कुलमें हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमें दरिद्रकुल तथा एकमें बन्धुकुल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेनेके लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मनुष्यके मनमें विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते है—

गा०—मानकषायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वंशको जाति और पिताके वंशको कुल कहते हैं। जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषायसे दूषित होनेसे यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

---

१. दरिद्रकुले—अ० ।

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं ।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण ॥१२१२॥

'कुद्धो वि' क्रुद्धोऽपि । 'अप्पसत्थं' परवधादिकं । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्थेदि' प्रार्थयते । 'जधा' यथा 'उग्गसेणघादे' उग्रसेनमरणे । 'कदं णिदाणं' कृतं निदानं 'वसिट्ठेण' वसिष्ठेन यतिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं ।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं ॥१२१३॥

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । 'पत्थेंते' अभिलषति । 'भोगकदं' भोगकृतं निदानं । 'णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं' नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । 'केसवचक्कधरत्तं' वासुदेवत्वं सकलचक्रवर्तित्वं च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं भवति ॥१२१३॥

संजमसिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं ॥१२१४॥

'संजमसिहरारूढो' संयम- शिखरमिव दुरारोहत्वादचलत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृष्टसंयमोऽपि । 'घोरतवपरक्कमो' घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाय्यपि । 'तिगुत्तो वि' गुप्तित्रयसमन्वितोऽपि । 'पगरिज्ज जइ णिदाणं' निदानं यदि कुर्यात् । "सो विय' व्यावर्णितगुणोऽपि 'वड्ढेइ' वर्धयति संसारमात्मनः । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं ॥॥१२१५॥

गा०—क्रोध कषायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका वध करनेकी प्रार्थना करता है। जैसे वशिष्ठ ऋषिने उग्रसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्टतापसने उग्रसेनको मारनेका निदान किया था। इस निदानके फलसे वह मरकर उग्रसेनका पुत्र कंस हुआ। और उसने पिताको जेलमें डालकर राज्यपद प्राप्त किया। पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवों और मनुष्योंमें होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वांछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०-टी०—संयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुःखसे चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है। उस संयमपर जो आरूढ है अर्थात् उत्कृष्ट संयमका धारी है, घोर तप करनेमें उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियोंका धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

'जो अप्पसुक्खहेदु' स्वल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति [illegible] कोटिमूल्यं [illegible] विक्रीणीते मणिं बहुकोटिधनमूल्यम् ॥१२१५॥

सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं ।
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

'सो भिंदइ' स भिनत्ति कीलकलोहार्थं नावं अनेकवस्तुपूर्णां । भिनत्ति [illegible] सूत्रार्थं । गोशीर्षं चन्दनं दहति भस्मार्थं यो निदानं करोति स्वल्पार्थं । [illegible]—'[illegible]' एवं वा निदानकारी, तेन नौप्रभृतिक विनाशितं । अर्थाख्यानानि [illegible] ॥१२१६॥

कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो ।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

'कोढी संतो' कुष्ठी सन् रसायनभूतमिक्षुं लब्ध्वा दहति य [illegible] सर्वदुःखव्याधिविनाशनोद्यतं भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ।
जं पुरिसत्ताइमओ भवो भवमओ य संसारो ॥१२१८॥

'पुरिसत्तादिणिदाणंपि' पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति । यस्मात्पुरुषत्वादिरूपो भवपर्यायः । भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तनस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाहो य ।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोड़ों रुपयोंके मूल्यवाली मणिको एक कौड़ीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नावको—जो समुद्रमें जा रही है तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर्षचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिर्मित हारको तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे लाभके लिए बहुत हानि करता है। एक मूर्खकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी। इनकी कथाएँ (कथाकोशोंसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका विनाश करनेमें तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण 'मैं मरकर पुरुष होऊँ' या मेरे वज्रऋषभनाराच संहनन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते। क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे संसार भवमय है। अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है ॥१२१८॥

1. मूर्खकारोऽन्यारपा—अ० ज०।

'दुक्खक्खय' दुःखानां शारीराणां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु। तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत् ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए।
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥१२२०॥

'पुरिसत्तादीणि' पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि। कस्य? कृतरत्नत्रयाराधनस्य नैश्चयेन। तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो।
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥१२२१॥

'माणस्स भंजणत्थं' मानभञ्जनार्थं ध्यातव्यः शरीरनिर्वेदः। तथा दोषाश्च मानस्य। तथैव संसारनिर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकसूरिः शिक्षयति। शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनतः। किमेतेन शरीरेणेति शरीरे अनादरः शरीरनिर्वेदः। स कथं मानस्य भञ्जने निमित्तं। स हि शरीरानुरागमेव विहन्ति तत्प्रतिपक्षत्वात्। अत्रोच्यते—मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीतः। स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते। मानस्य दोषा नीचकुलेपूत्पत्तिर्मान्यगुणालाभः, सर्वविद्वेष्यता, रत्नत्रयाद्यलाभ इत्यादिकाः। संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेदः। तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशात्,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो। तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो। रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुरुषत्व आदि का तथा संयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०-टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकषायका विनाश करनेके लिए शरीरसे निर्वेदका, मानके दोषों का और संसारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये। शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे 'इस शरीरसे क्या लाभ' इस प्रकार शरीरमें अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमें अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभिमान लिया है। वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है। नीच कुलोंमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायसे होनेवाले दोष हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवपरिवर्तन रूप संसारसे विमुख होना संसारनिर्वेद है। संसारनिर्वेदमें उपयोग लगानेसे अहंकारके निमित्तोंका विनाश होता है। क्योंकि

---

१. मेवावहृति-आ० मु०।

निन्द्यानां च गुणानां बहूनां अनेकत्रवृत्तिः अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । [1]स्वप्राप्तेभ्यो गुणेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलम्भनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाचष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

'णीचो वि होदि' स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि 'होदि' भवति । 'उच्चो' तैरेवोन्नत । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि 'णीचत्तणं' तैर्न्यूनतां । 'पुण उवेदि' पुनः उपैति । 'जीवानां खु' जीवानां खलु । 'कुलाइं' कुलानि । कीदृग्भूतानां ? 'विस्समत्ताणं' विश्रमतां बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य कः कुलगर्वः । 'पथिकस्सव' पथिकस्य यथा विश्रामस्थानं न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भाव ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानिं बुद्ध्या गृह्णतः तस्य युक्तोऽहंकारः न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।
वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत्. किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थ. । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहंकारमें निमित्त होते हैं, अनेक प्राणियोंमें पाये जाते हैं। तथा अपनेको जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोंको प्राप्त हैं। अत. उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं। जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है। जीवोंके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं। जैसे पथिकका विश्राम लेनेका स्थान नियत नहीं है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है। तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है। और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोंकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नहीं होती—

गा०-टी०-शंका—जिसमें रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं। योनि तो उच्च या नीच होती नहीं। तब 'उच्चासु व नीचासु' क्यों कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है। अत ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमें अथवा निन्दनीय कुलमें उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती। सर्वत्र जीवका परिमाण

१. स्वप्राप्तेभ्यो—आ० मु० ।

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुणः कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यैः । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासे भ्रमतो हि जंतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ।
स एव नीचोत्तममध्यजातीः स्वकर्मवश्यः समुपैति तास्ताः ॥

नृपश्च दासः श्वपचश्च विप्रो दरिद्रवंशश्च समृद्धवंशः ।
चोराग्निदावाहितयाचिता (?) च संजायते कर्मवशात्स एव ॥

को यधिकारः सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतौ ।
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिंसापि च दुष्कृतेषु ॥ [ ] ॥१२२३॥

कालमणंतं णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ।
जोणीमिदरसलागं ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

'कालमणंतं णीचागोदो होदूण' अनन्तकालं नीचैर्गोत्रो भूत्वा । 'लभदि सगिमुच्चं जोणिं' लभते सकृदुच्चैर्गोत्रं । कीदृशी 'इदरसलागं' इतरशलाकां । इतरा नीचैर्योनयः शलाका यस्या उच्चैर्योनिस्ता इतरशलाकां । 'ताओ वि' ता अपि [1]अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनयः । 'गदा अणंताओ' अनन्ता प्राप्ता एकेन जीवेन ॥१२२४॥

उतना ही रहता है। ज्ञानादि गुणोंमें अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है। कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते। और अनादरणीय कुलमें उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सन्मान करते हैं। कहा है—संसारमें भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है। वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोंमें जन्म लेता है। वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वंश वाला या सम्पन्न वंश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलसे पीड़ित तथा माँगने वाला होता है। उच्च कुलोंमें मनुष्योंको जन्म लेनेका गर्व कैसा? और नीच कुलोंमें जन्म लेने पर घृणा कैसी? गर्व करना हो तो धर्ममें ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०-टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है। इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है। शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म। नीच गोत्रोंके अन्तरालमें प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव संसारमें भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमें जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है। तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमें जन्म लेनेके पश्चात् एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमें भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

---

१. अन्तराले अन्तराले लब्ध्वा अपि—ज० मूलारा० ।

णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भावदो तस्स ।
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरगाथा । स्पष्टतया[1] वस्तुस्थितिं भापेयते। सङ्कल्पायत्ता प्रीतिरप्रीतिर्वेत्यनुभवसिद्धमेतदखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवतः संकल्पात् ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइं पीदिं करेंति दुःक्खं वा ।
संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥१२२९॥

'तम्हा' तस्मात् । 'उच्चणीचत्तणाणि' मान्यामान्यकुलत्वानि । 'न करेंति पीदिं दुक्खं वा' न कुरुतः प्रीतिं दुःखं वा । 'संकप्पो पीदिं करेदि' संकल्पो 'से' अस्य जीवस्य तस्मात् प्रीतिं करोति दुखं वा । सति सकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकषायमाहात्म्योऽयं दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ।
पत्ता हु णीचजोणी बहुगो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

'कुणदि य' करोति । 'माणो' अहंकारः । 'णीयागोदं पुरिसं' नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्रं 'पुरिसं' आत्मानं । 'भवेसु' जन्मसु । 'बहुयेसु' बहुषु । 'पत्ता' प्राप्ता । 'णीचजोणी हु' नीचैर्गोत्रमेव । का ? 'लच्छिमदी' लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? 'माणेण' सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमें भी अनुराग क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गाथामें इससे विपरीत कथन करते हैं—

गा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह उच्चपनामें क्या दुःख नही होता ? होता ही है । किसीसे प्रीति या अप्रीति तो संकल्पके अधीन है यह बात समस्त जगत्के अनुभवमें सिद्ध है। क्योंकि संकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका भाव और दुःखका अभाव नही होता ॥१२२८॥

गा०—अतः उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता। किन्तु जीवका सकल्प सुख या दुःख करता है। संकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और संकल्पके अभावमें नहीं होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकषायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकषाय अर्थात् अहकार पुरुषको अनेक जन्मोंमें नीच गोत्री बनाता है। देखो, लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमें उत्पन्न हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—वृहत्कथा कोशमें १०८ नम्बरमें इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

---

१. स्पष्टाया—अ० ।

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ।
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

'पूयावमाणरूवविरूवं' पूजा, अवमानं परिभवः । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि शोभनाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्यं नेत्यर्थः । 'सुभगत्तदुब्भगत्तं च' सौभाग्यं दौर्भाग्यं च सर्वेषां प्रियत्वं द्वेष्यत्वं चेति यावत् । 'आणाणाणा य तहा' आज्ञा आदेशप्रतिघातः अनाज्ञा च तथा । 'विधिना' माननिषेधप्रकारेणैव । 'पडिसेज्ज' प्रतिषेध्याः । अभिधेयवशाल्लिंगवचनप्रवृत्तिरिति लिंगान्तरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसम्बन्धः । परिभवं प्राप्तोऽपि बहुशः कदाचित्पूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरागोऽस्य । दुःखं वा परिभवप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि बहुषु पुनः परिभवानवाप्स्यति । न चात्मनः पूजायां काचिद् वृद्धिः परिभवे वा हानिः । सङ्कल्पवशादेवात्मनो जायेते प्रीतिपरितापौ न केवलं पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

यः स्तूयते शुचिगुणैर्मधुरैर्वचोभिः स निद्यते च परुषैर्वचनैर्विचित्रैः ।
हा चित्रता कथमयं भवसंकटस्थः प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोगं ॥
भूत्वा मनुष्यपतयः पुनरेव दासा होना भवन्ति शुचयोऽशुचयश्च भूयः ।
कान्त्या[3] च ये युवतिभिर्विषमानुरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपेत्य भूयः ॥
दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो यः संदृश्यते विकलपुण्यतया दरिद्रः ।
भूयश्च मित्रबहुबंधुजनोपगूढः संलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक[4] एव ॥ [ ] ॥१२३१॥

गा०-टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गाथामें आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमें प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है । अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है । सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना । जिसने अनेक जन्मोंमे तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है । इसी प्रकार अनन्त जन्मोंमें पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है । अतः उनमें अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोंमें पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कारको प्राप्त करेगा । पूजा होनेपर आत्मामें वृद्धि नहीं होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामें कोई हानि नहीं होती । संकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नहीं होते । कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये संस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है । कैसा आश्चर्य है कि संसाररूपी संकटमें पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है । मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है । पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है । जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं । जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है । जो बहुतसे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ

१. दुःखानामि-अ० । २. नैवंविना-अ० ब० । ३. कान्ता च येषु युवतिः-ज० विषमाणरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपेत्य भूय-आ० ब० । ४. कर्येव-अ० ।

[1]इच्चेवमादि अविचिंतयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ।
एदे सम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो दु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढणं होदि ।
कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवघणिदाणं ॥१२३३॥

'जइदा' यदि तावत् । 'उच्चत्तादिणिदाणं' उच्चैर्गोत्रता, पुरुषत्वं, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-र्बन्धुतेत्येवमादिकं मुक्तेः परम्परया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । 'संसारवड्ढणं होदि' संसारवृद्धिं करोति । 'किध ण करिस्सदि' कथं न करिष्यति । 'दीहसंसार' दीर्घसंसारं । 'परवधणिदाणं' परवधे चित्तप्रणिधानं ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिता हि [2]सेत्याशङ्कायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।
धणिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण ॥१२३४॥

'आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे' आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । 'णत्थि तस्स' नास्ति तस्य । 'तम्मि भवे' तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । 'धणिदं पि संजमंतस्स' नितरामपि संयमं कुर्वतः । किं नास्ति 'सिज्झणं' सेधनं मुक्तिः । केन ? 'माणदोसेण' मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । पूज्यो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्तायां सत्यां निदानं तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमें पड़नेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि बातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है। और जो इन बातोंको सम्यक्रूपसे देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हों, यदि ससारको बढ़ानेवाला है तो दूसरेके वधका चित्तमें निदान करना दीर्घ संसारका कारण क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रयमें अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर आदि बनूँ ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमें निदान किया है उस भवमें अत्यन्त संयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस संकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है। इससे उसका अहंकार प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे कहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तवन करनेसे भोगोंका निदान नहीं होता—

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति । २. हि सतीत्या–आ० ।

भोगा चिंतेदव्वा किंपागफलोवमा कडुविवागा ।
महुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा चिंतेदव्वा' भोगाश्चिन्त्याः । 'किंपागफलोवमा' किंपाकफलोपमाः । 'कडुविवागा' [illegible] विपाकः फलं येषामिति कटुविपाकाः । 'महुरा व' मधुरा इव । 'भुंजमाणा' भुज्यमानाः । 'पच्छा' पश्चात् । 'बहुदुक्खभयपउरा' [illegible] ॥१२३५॥

भोगनिदानदोषं कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ।
[1]माहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगणिदाणेण य' भोगनिदानेन वा । 'सामण्णं' श्रामण्यं । 'भोगत्थमेव होइ कदं' भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागव्याकुलित[illegible] उद्यतस्य का [illegible]तता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थं' अभिघातार्थं । 'जह' यथा । 'ओसरणं' अपगमः । 'मेसस्स होदि' मेषस्य भवति । 'मेसादो' मेषात् । 'सणिदाणबंभचेरं' सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं । 'अब्बभत्थं' मैथुनार्थं । 'तहा होदि' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण ।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपाकफलके समान हैं। जैसे किंपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०-टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढ़ा दूसरे मेढ़ेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

---

1. माहोलंबो–मू०, मूलारा० । माहामंगा–आ० ।

'जह वाणिया' यथा वणिजः। 'पणियं' पण्यं। 'लाभत्थं' लाभार्थं। 'विक्किणंति' विक्रीणन्ति। 'लोभेण' लोभेन। 'भोगाणं' भोगानां। 'पणिदो भूदो' पण्यभूतः। 'सणिदाणो' सनिदानः। 'तहा धम्मो होदि' तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवतः[1] श्रामण्यं प्रणिंदति—

सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥१२३९॥

'सपरिग्गहस्स' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सपरिग्रहः। तस्य। 'अब्बंभचारिणो' मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य। 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य मैथुनात्। 'मनसा' चित्तेन। 'से' तस्य कायेन सु शरीरेणैव। 'सीलवहणं' ब्रह्मव्रतवहनं। 'होदि' भवति। 'णडसमणरूवं व' नटानां श्रमणरूपमिव। कायेन भावश्रामण्यरहितं यथा अफलमेवमिदमपि इति भावः ॥१२३९॥

रोगं इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई।
तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोगं कंखेज्ज' व्याधिमभिलषति। 'जहा कोइ' यथा कश्चित्। किमर्थं ? 'पडियारसुहस्स कारणे' औषधसेवासुखाधिगमनार्थं। 'तह' तथा 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य। 'अण्णेसदि' अन्वेषते। 'दुक्खं' दुःख। कः ? 'सणिदाणो' सनिदानः। 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णया ॥१२४०॥

खंधेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ।
तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खंधेण' स्कन्धेन। 'जहा कोई' यथा कश्चित्। 'गरुगं सिलं' गुर्वी शिला। 'वहेज्ज' वहति। किमर्थं ?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है। वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते हैं—

गा०-टी०—भोगोंका निदान करनेवालोंके अभ्यन्तरमें वेदजनित राग रहता है अतः वह परिग्रही है। तथा वह मनसे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे अब्रह्मचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है। वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अतः वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है। भावश्रामण्यके विना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूँगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता। वैसे ही इस दुर्धर संयमको धारण

---

1. -वतः श्रमान्यं प्रणिगदति—आ०।

जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

'जह कोडिल्लो' यथा कुष्ठेनाभिद्रुतः । 'अग्गिं तप्पंतो' [illegible] । 'णेव उवसमं लभदि' नैव व्याधेरुपशमं लभते । न ह्यग्निरुपशामकः कुष्ठव्याधेः [illegible] । [illegible] यथा कुष्ठं नोपशमयति वह्निः । वर्धयति चाभिलाषं [illegible] 'तह' तथा । 'भोगे भुंजंतो' भोगानुभवनोद्यतः । 'खणंपि णो उवसमं लभदि' क्षणमात्रमपि नोपशमं लभते भोगाभिलाषरोगेण ॥१२४५॥

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥१२४६॥

'कच्छुं' कच्छुं । 'कंडुयमाणो' नखैर्मर्दयन् । 'सुहाभिमाणं करेइ' सुखाभिमानं करोति । 'जह दुक्खं' यथा दुःखे । 'तह मेहुण आदीहिं' तथा मैथुनादिदुःखे रभसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नखनिशितदन्तच्छेदने कचाकर्षणे । उक्तं च—

नग्नः प्रेत इवाविष्टः क्वणन्निव शवन्निव ।
श्वासायासपरिश्रान्तः स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [ ] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥१२४७॥

'घोसादकीं' घोषातकीं । 'किमि' कृमिः । 'खंतो' भक्षयन् । 'जहा मधुरित्ति' यथा मधुरमिति मन्यते वराकः । 'तह' तथैव । 'दुक्ख' वेदंतो' दुःखमनुभवन् । 'मण्णदि सोक्खं जणो कामी' मन्यते कामिजनः सुखं ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुष्ठ रोगसे पीड़ित व्यक्तिका शरीर आगमें जलने पर भी कुष्ठ रोग शान्त नहीं होता; क्योंकि आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता। जैसे आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती। उसी प्रकार स्त्रीका संगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढ़ाता है। अतः जो भोगोंके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४५॥

गा०-टी०—जैसे खाजको नखोंसे खुजाने वाला दुःखको सुख मानता है। उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तीक्ष्ण नखोंसे शरीर नोंचना, केश खींचना आदिसे होने वाले दुःखको कामी सुख मानता है। कहा भी है—कामी पुरुष पिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीड़ित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंतं भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

'सुट्ठु वि' सुष्ठु अपि। 'मग्गिज्जंतो' मृग्यमाणोऽपि। सारः कदल्यां क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

'जध सुणगो सुक्खल्लगमट्ठियं लेहंतो रसं जहा ण लभदि' श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते। 'सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोक्खं मण्णदे' तीक्ष्णास्थिछिन्नस्वन्तालुगलितरुधिरमास्वादयन्सुखाभिमानं करोति। 'जह तह' यथा तथा। 'पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५०॥

'महिलादिभोगसेवी' स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यतः। तथा 'पुरिसो ण किंचि वि सुहं लहदि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव। 'सो वरागो सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णदे' स वराकः स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य असत्यपि सुखे सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणस्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया' वने मृगेण हरिणादिना तृषाभिभूतेन जलकांक्षा-

---

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ सार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोंमें कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नहीं करता। किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे वनमें हरिण आदि जब प्याससे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती। उसी प्रकार रागके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

वता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिकया । न सा सुखेन [illegible] । तथा 'रागेण विविहाणि भोगा सुहं च दीसंति' रागतृषितेन भोगा सुखमिव दृश्यते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगालिऊण जह मसाणम्मि ।
तह कुणिमदेहसंफंसणेण अबुहा सुहायंति ॥१२५२॥

'वग्घो सुखेज्ज' श्मशाने व्याघ्रो मृतकमवगाह्य सुखी भवति यथा तथा कुथितदेहसंस्पर्शनेनाबुधा सुखाभिगमहर्षनिर्भरा भवन्ति ॥१२५२॥

भवतु नाम सुखं भोगेष्वपि तदल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठिदवेगस्स ।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥१२५३॥

'तथा अप्पं भोगसुहं धावंतस्स अठिदवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तहु अप्पं भोगसुहं' धावतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्पं भोगसुखं तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्पं आसासमुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ।
भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

'अहवा' अथवा । 'अप्प' अल्प । 'आसासमुहं' आश्वास एव सुखं । 'सरिदाए' नद्यां । 'उप्पियंतस्स' निमज्जत । 'भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स' भूमिस्पृष्टाङ्गुष्ठस्य । 'सोत्तेण उब्भमाणस्स' स्रोतसा प्रवाहेनोह्यमानस्य । अल्पं आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन संबन्धः ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि, तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरिः—

जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ।
को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजढेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे श्मशानमें व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके आलिंगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे संतप्त पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेसे थोड़ा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे अंगूठेके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊंगा, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमें हर्ष होना

---

१ श्मशाने मृतकं शव भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

'जावंति केइ भोगा' यावन्तः केचन भोगाः। 'ते सव्वे पत्ता अणंतखुत्ता ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवारं तव। 'को णाम तत्थ भोगेसु' को नाम तेषु भोगेषु विस्मयः लब्धेषूज्झितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तरं दहति भवन्तं, सेव्यमानाः पुनर्भोगास्तामेव तृष्णां वर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छां शिथिलतां नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीविंति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भुंजदि भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्क्ते। 'तह तह' तथा तथा। 'भोगेसु वड्ढदे तण्हा' भोगेषु वर्धते तृष्णा। 'अग्गि व' अग्नि वा। यथा 'इंधणाइं' इन्धनानि। 'दीविंति' दीपयन्ति। 'तहा' तथा। 'तण्हं' तृष्णां दीपयन्ति। 'से' तस्य भोक्तुर्भोगाः। तथा चोक्तं—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासां। इष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्स्वयंभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स' जीवस्य। नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवतः पल्योपमत्रयकालं भोगभूमीषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकालं अमरेषु। तृप्त्या च विना चित्तं। 'उव्वूरं उव्वुद' उत्पूरं उच्छुतं भवतीति सूत्रार्थः ॥१२५७॥

जह इंधणेहि अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इंधणेहिं' यथेन्धनैरग्निर्न तृप्यति। यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः। तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तर्पयितुं ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है। उन भोगकर छोड़े गये विषयोमें हर्ष मानना उचित नहीं है। इस प्रकार आचार्य विषयोके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने संसारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयोमें आश्चर्य कैसा? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हे भोगोकी तृष्णा निरन्तर जलाती है। भोगोका सेवन उसी तृष्णाको बढ़ाता है अतः भोगोकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोको भोगते हो वैसे वैसे भोगोकी तृष्णा बढ़ती है। जैसे इंधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोंसे तृष्णा बढ़ती है। कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोके विषयोसे इसकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

गा०—तीन पल्य तक भोगभूमिमें, तेतीस सागर तक देवोंमे इस तरह चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए भी तृप्ति नही होती और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नही होती। अथवा जैसे हजारों नदियोंसे समुद्रकी

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया ।
भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

'देविंद' देवानामधिपतय', चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिनः, भोगभूमिजाश्च भोगैर्न तृप्यन्ति । कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगैः । सुलभामितभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतन्त्राश्चामी । अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ताः स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

संपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु ।
भोगत्थं होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविवत्तीसु य' सम्पत्सु विपत्सु च । 'अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु' द्रव्यस्यालब्धस्यार्जने', पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे । पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा । भोगत्थं अनुभवार्थं । अर्जनादिषु प्रवृत्तः । 'उद्धुदचित्तो य णरो होदि' चलचित्त उत्कण्ठावांश्च भवति नरः । द्रव्यसम्पदि जाठायां रागाच्चलचित्तं भवति । द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ।
पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्य घण्णस्स ॥१२६१॥

'उद्दुदमणस्स' व्याकुलचित्तस्य 'ण सुहं' न सुख भवति । 'सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी' सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्ति । 'पीदीए विणा' प्रीत्या विना । 'ण रदी' न रतिः । 'उद्धुदचित्तस्स' व्याकुलचेतस । 'घण्णस्स' उत्कण्ठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगोसे जीवकी तृप्ति नही होती ॥१२५८॥

गा०-टी०—देवोंके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ [illegible] भी भोगोंसे तृप्त नही होते । तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोंसे तृप्त हो सकता है ? अर्थात् इनके लिए भोगोंके अपरिमित साधन सुलभ है, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते है । आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमें भी असमर्थ और थोडी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं । अतः उनकी भोगोंसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमें, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् धन आदिका विनाश होनेपर कैसे मै जीवित रहूँगा ? कैसे पुनः धन कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नही होता । सुखके विना प्रीति नही होती । प्रीतिके विना रति नहीं होती । इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके विना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

१ [illegible] मु०—आ० ।

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

'जो पुण इच्छदि रमिदुं' य. पुना रमितुं इच्छति । 'सो कुणदि रदिं' स करोतु रतिं । क्व ? 'अज्झप्पसुहम्मि' अध्यात्मसुखे । 'णिव्वुदिकरम्मि' निर्वृतिकरे । 'उवसंतो' उपशान्तरागकोपः । एतदुक्तं भवति—मनोज्ञामनोज्ञविषयसन्निधाने स्वसंकल्पहेतुकौ यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु । 'अज्झप्पसमा' आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तया सदृशी रतिः । "णत्थि खु' न विद्यते एव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

'अप्पायत्ता' स्वायत्ता । 'अज्झप्परदी' आत्मस्वरूपविषया रतिः परद्रव्यानपेक्षणात् । 'भोगरमणं' भोगरतिः 'परायत्तं' परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषां च कथंचिदेव सान्निध्यं क्वचिदेव कस्यचिदेवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यातं । प्रकारान्तरेणापि वैधर्म्यं दर्शयति । 'भोगरदीए चइदो होदि' भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति 'अज्झप्परमणेण' अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरतिः, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके प्राप्त होनेपर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकारके संकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हे त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं हैं । क्योकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रतिके समान नही है ॥१२६२॥

गा०-टी०—क्योकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमें परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योकि उसमें परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन होनेसे दोनोंमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषमता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नही होता क्योकि *आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है* ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नही होता और न उसमे विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

'भोगरदीए' भोगरत्याः। 'णियदो णासो' नियतो विनाशः। 'विग्घा य हुंति' विघ्नाश्च भवन्ति। 'अदिबहुगा' अतीव बहवः। 'अज्झप्परदीए' अध्यात्मरतेः। 'सुभाविदाए' सुष्ठु भाविताया:। 'णासो' नाशो, न विद्यते। 'विग्घा वा' विघ्ना वा न सन्ति। नियतं नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयो रत्योर्वैषम्यमिति भाव ॥१२६४॥

इन्द्रियसुखं शत्रुतया सङ्कल्पनीयं तथा न तत्रादरो जन्तोर्निवृत्तेः अतो अतीन्द्रियसुखमेव वीतरागत्व-हेतुके संवरे इति मत्वा सूरिचूलामणिराह—

दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सत्तू।
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किहुं ण हुंती ॥१२६५॥

'दुक्खं उप्पादिता' दुःखमुत्पाद्य। 'जदि सत्तू होंति' यदि शत्रवो भवन्ति। 'पुरिसा पुरिसस्स' पुरुषाः पुरुषस्य। 'अदिदुक्खं कुणमाणा भोगा' अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि। 'किध सत्तू ण हुंति' कथं शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति। कथं भोगानां दुःखहेतुता एवं मन्यते? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यसन्निधानजन्यं। तत्र स्त्र्यादिकं दुर्लभतमं निर्द्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं। ततो महानायासः। इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्तं च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति। तदिमं दुरन्ते संसाराम्भोधौ निमज्जयति। तत्र च निमग्नेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

इहइं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तणं पुणमुवेंति।
इहइं परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥

'इहइं' अस्मिन्नेव जन्मनि। 'परलोगे वा' परजन्मनि वा। 'सत्तू' शत्रवः। 'मित्तत्तणं' मित्रतां।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत है। किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं। इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोंमें कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो। ऐसा करनेसे उनमें जो आदर-भाव है वह दूर होगा। तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे संवर रूप है—

गा०-टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यों नहीं हैं? अवश्य हैं। भोग दुःखके कारण क्यों हैं यह विचार करें। स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं। वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए। उससे महान् आरम्भ होता है। हिंसा आदिमें प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमें दुःख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है। और वह कर्म उसे ऐसे संसार समुद्रमें डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है। उस संसार समुद्रमें डूबकर यह जीव कौन दुःख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं—

गा०—इस जन्ममें अथवा परजन्ममें शत्रु शत्रुताको छोड़कर मित्र बन जाते हैं। अर्थात्

'पुणमुवेंति' पुनढौकन्ते । शत्रवः शत्रुतामपि जह्युः । कार्यवशात्, उपकारातिशयसम्पादनान्मित्रता वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा 'सव्वदा दुक्खावहा भोगा' सर्वदा दुःखावहा भोगाः । ततः शत्रुतमा इति भावनीयं ॥१२६६॥

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥१२६७॥

'एगम्मि चेव देहे' एकस्मिन्नेव देहे । 'करेज्ज दुक्खं' ण वा करेज्ज अरी' कुर्याद्दुःखं न वा शत्रुः । 'भोगा पुण' भोगा पुनः । 'से' तस्य । 'दुःखं' करंति' दुःखं कुर्वन्ति । 'भवकोडिकोडीसु' अनन्तेषु भवेषु । एवं भोगदोषानवेत्यात्र निदानं त्वया न कार्यं इत्युपदिष्टं सूरिणा ॥१२६७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥१२६८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मध्वेव पश्यति यथा तटेऽवलम्बमानः । 'ण पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपादं' प्रपातमात्मनः । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानसहितः । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'ण हु पेच्छदि' नैव प्रेक्षते । 'दीहसंसारं' दीर्घसंसारं ॥१२६८॥

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ।
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥१२६९॥

'जालस्स' जालस्य । 'अंते' मध्ये । 'जहा मच्छा रमंति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'भयमयाणंता' भयमनवबुध्यमानाः । 'तह संगादिसु' तथा परिग्रहादिषु । 'जीवा रमंति' जीवा रमन्ते । 'संसारमगणंता' संसारमगणयन्तः ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ।
णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सघरं पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलसे मित्र बन जाते हैं। किन्तु भोग इस जन्ममें और परजन्ममें सदा ही दुःखदायी होते हैं। इसलिए वे शत्रुसे भी बड़े शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक ही भवमें दुःख दे या न भी दे। किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२६७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक! तुम्हें निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूँदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता। वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ संसारको नहीं देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव संसारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

दाऊण जहा अत्थं रोघणमुक्को सुहं घरे वसइ ।
पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ ॥१२७३॥

'दाऊण' दत्वा । 'अत्थं' अर्थं । 'जह' यथा । 'रोधणमुक्को' रोधेन मुक्तः । 'सुहं घरे वसदि सु' सुखेन गृहे वसति । 'पत्ते समये य' प्राप्ते चावधिकाले । 'पुणो रुंभइ' पश्चाच्च रुध्यते । 'तथा चेव' पूर्ववदेव । 'धारणीओ' अधमर्णः ॥१२७३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सग्गे ।
संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥१२७४॥

संभूदो वि णिदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ।
पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो [1]तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'संभूदो वि णिदाणेण' निदानेन संभूतः कश्चित् । 'देवसुक्ख' [2]देवसुखं । चक्कधरसोक्खं' चक्रधरसौख्यं । 'पत्तो' प्राप्तः । 'तत्तो य चुदो' तस्मात्सुखात्प्रच्युतः उत्पन्नः । 'उववण्णो' उपपन्नः । '[2]तिरियवासम्मि' [3]तिर्यग्वासे ॥१२७४॥

णच्चा दुरंतमद्धुयमत्ताणमतप्पयं अविस्सायं ।
भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा ॥१२७६॥

'णच्चा' ज्ञात्वा । 'दुरंतं' दुरवसानदुःखफलमिति यावत् । 'अधुव' अनित्यं । 'अत्ताण' अत्राणं । 'अतप्पयं' अतर्पकं । 'अविस्सायं' असकृद्वृत्तं । 'भोगसुखं भोज्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगाः स्त्र्यादयः, तज्जनितं सुखं । 'तो' पश्चात् । 'तम्हा' तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । 'विरदो' व्यावृत्तः । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कारागारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमें रहता है। किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुनः पकड़कर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमें क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर संसारमें ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—सभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तीके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। उसके पश्चात् मरकर तिर्यञ्चगति (नरक गति) में उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं। उनसे होने वाला सुख ऐसा दुःख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है, उससे तृप्ति नहीं होती, अनादि संसारमें उसे जीवने अनेक बार भोगा है। अतः उससे मनको हटाकर समस्त कर्मोंके अपायरूप मोक्षमें मन लगाना चाहिए। अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेसे

१-२-३. णिरय-मु० ।

[illegible]पकर्मापाये । 'मदि कुज्जा' मतिं कुर्यात्, अनुलोमानेन [illegible] ॥ [illegible] मति
, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ॥१२७६॥

निदानदोष विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण आचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ ॥१२७७॥

'अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृषभः 'दंसणणाणचरणं' रत्नत्रयं, 'विसोधेदि' [illegible],
[illegible]नाभावादनतिचारं सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मलं ज्ञानं, निर्मलं विशुद्धज्ञानपूर्वं चारित्रं
[illegible]द्ध भवति, 'तवसा कम्मक्खयं कुणदि' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्चेवमेदमविचिंतयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ।
इच्चेवं पस्संतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चेवमेदमविचिंतयदो' इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविचिन्तयतः । 'होज्ज हु' भवेदेव, 'णिदाणकरणमदी'
[illegible]नकरणे बुद्धिः, 'इच्चेवं पस्संतो' इत्येवमेतत्पश्यन्, 'ण हु होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदान-
[illegible]णमतिः । णिदाणं ॥१२७८॥

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वण्णिदा दोसा ।
मिच्छत्तसल्लदोसा य पुव्वमुववण्णिया सव्वे ॥१२७९॥

'मायासल्लस्स' मायाशल्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वण्णिदा दोसा' वर्णिता
[illegible]षाः, 'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । 'सव्वे' सर्वे, 'पुव्वमुववण्णिया' पूर्वमेव व्यावर्णिताः, शल्य-
[illegible]गतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया त्याज्यमिति ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थाख्यानेन दर्शयति—

[illegible]र्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए। निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते हैं—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्न-
[illegible]यको विशुद्ध करते हैं। अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। सम्यग्-
[illegible]दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है। और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध
होता है। तब विशुद्ध ज्ञान चारित्रसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें
लगती है। और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गा०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्यके दोष कह आये हैं। और मिथ्यात्व शल्यके
दोष पूर्वमें ही कहे हैं। इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं। अब इन
दोषोंको जानकर तुम्हें तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए। इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा
कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्यका त्याग न करनेमें प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

पब्भट्ठबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।
दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

'पब्भट्ठबोधिलाभा' प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्याः सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । 'आसी' आसीत् । का ? 'पूदीमुही' पूतिमुखीसंज्ञिता । 'सागरदत्तस्स दासी' सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? 'माया-सल्लेण' मायाशल्येन । 'पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पब्भट्ठबोधिलाभा आसी' इति पदसम्बन्धः पुष्प-दन्ताख्या विरता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्यं ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ।
बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ मरीची ॥१२८१॥

'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषात् । 'पियधम्मो' प्रियधर्मः । 'साधुवच्छल्लो संतो' साधूना वत्सलोऽपि सन् मरीचिः । 'संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ' संसारे सुचिरं भ्रान्तः, कीदृशे ? 'बहुदुक्खे' बहुदुःखे । मिथ्याशल्यं ॥१२८१॥

एवं निर्यापकेन सूरिणा संस्तूयमानः साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभंडिं समिदिवइल्लं तिगुत्तिदिढचक्कं ।
रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥१२८२॥

[1]'इय सारमिज्जंतो साधुवग्गसत्थो साधुवणियगो संसारमहाडविं तरदित्ति' पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण सरिज्जमाणः साधुवृन्दसार्थः संसारमहाटवीं तरति । 'पव्वज्जाभंडिमारुहिय पत्थिदो' प्रव्रज्याभण्डिमारुह्य प्रस्थितः, 'समिदिवइल्लं' समितिबलीवर्दां, 'तिगुत्तिदिढचक्कं' त्रिगुप्तिदृढचक्रां, 'सम्मत्तक्खं' सम्यक्त्वाक्षां, 'सणाणधुरं' सम्यग्ज्ञानधुरीणां ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व-शल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण संसारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा संस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्ष-नगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाड़ीपर साधुओंके संघके साथ चढ़कर निर्वाणरूपी भांडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाड़ीमें

---

1. 'इयसारमिज्जंतो साधुवृन्दसार्थः संसारमहाटवीं तरति'—आ० ।

वदभंडभरिदमारुहिदसाधुसत्थेण पत्थिदो समयं ।
णिव्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२८३॥

'वदभंडभरिदं' व्रतभाण्डपूर्णं । 'साधुसत्थेण पत्थिदो समयं' साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । 'णिव्वाणभंडहेदुं' निर्वाणद्रव्यनिमित्तं । 'साधुवाणियओ' श्रमणसाधुवणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण मारविज्जंतो ।
सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥१२८४॥

'आयरियसत्थवाहेण' आचार्यसार्थवाहेन । 'णिच्चजुत्तेण' सर्वदानपायिना । 'सारविज्जंतो' संस्क्रियमाणः ॥१२८४॥

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाउत्तं ।
इंदियचोरेहिंतो कसायबहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'तो' ततः । 'भावणादियंतं रक्खदि' भावनादिभि प्रयत्नं रक्षति । 'तं साधुसत्थं' तं साधुसार्थं । 'आउत्त' आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशङ्कायां उत्तरं—'इंदियचोरेहिंतो' इन्द्रियचोरेभ्यः । 'कसायबहुसावदेहिं च' कषायबहुश्वापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ।
इंदियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपंति ॥१२८६॥

'विसयाडवीए मज्झे' स्पर्शरसरूपगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रमणीयाः । तस्या विषयाटव्या मध्ये । 'जो ओहीणो' य साधुरपसृतः । 'पमाददोसेण' प्रमादाख्येन दोषेण । 'इंदियचोरा' इन्द्रियाख्याश्चोराः । 'से' तस्यापसृतस्य साधुवणिजः । 'चरित्तभंडं' चरित्रभाण्डं । 'विलुंपंति' अपहरन्ति । सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयजा इन्द्रियमत्यनुपायिनो रागद्वेषाश्चारित्रं विनाशयन्ति प्रमादिनः । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचोरैर्बध्यते इति भाव. ॥१२८६॥

समितिरूपी बैल जुडे हैं, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चाके हैं। रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्ड हैं। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी धुरा है ॥१२८२-८३॥

गा०—आचार्य उस संघके नायक हैं जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बारम्बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय संसाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह सावधान आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोंसे और कषायरूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लांघे जाते हैं इसलिए उन्हें अटवी (घोर वन) की उपमा दी है। उस विषयरूपी अटवीके मध्यमें जो साधु प्रमाद दोषसे आता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं। अर्थात् पास इष्ट अनिष्ट विषयोंको लेकर इन्द्रिय वृत्तिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादोंको दूर करता

१ संरक्ष्यमाण—मु०, मूलारा०।

अहवा तल्लिच्छाइं कूराइं कसायसावदाइं तं ।
खज्जंति असंजमदाढाहिं संकिलेसादिदंतेहिं ॥१२८७॥

'अहवा' अथवा । 'तल्लिच्छाइं' अपमृतवनलिप्सावन्तः । 'कूराइं' क्रूराः । 'कसायसावदाइं' कषायश्वापदाः । तं अपमृतं । 'खज्जंति' भक्षयेयुः । 'असंजमदाढाहिं' असंयमदंष्ट्राभिः । 'संकिलेसादिदंतेहिं' संक्लेशादिदन्तैश्च । इन्द्रियाणां कषायाणां वा वशे निवृत्त्यर्गतो निर्यापके गुणविवि भावः ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकषाययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असंजदो होइ ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥१२८८॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' तीव्रेन्द्रियकषायपरिणामतया । 'सुहसीलभाविदो समणो' सुखसमाधिभावितः श्रमणः । 'करणालसो' त्रयोदशविधासु क्रियासु अलसः । 'भवित्ता' भूत्वा । 'सेवदि' सेवते । 'ओसण्णसेवाओ' अवसन्नसेवाः भ्रष्टचारित्राणां क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पंथं छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

'केई गहिदा इंदियचोरेहिं' केचिद्गृहीता इन्द्रियचोरैः । 'कसायसावदेहिं तहा' तथा कषायश्वापदैश्च गृहीताः । 'साधुसत्थस्स पंथं छंडिय' साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा । 'पासम्मि णिज्जंति' पार्श्वे यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमें फँसे हुए लोगोंको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी सिंहादि उस आगत साधुको असंयमरूपी दाढ़ोंसे और रागद्वेष मोहरूपी दाँतोंसे खा जाते हैं। कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियों और कषायोंके फन्देमें फँस जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोंका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुओंके संघसे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है ॥१२८९॥

गा०—कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर साधु संघके मार्गको छोड़कर साधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु संघके पार्श्ववर्ती होनेसे इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।
गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पावेंति दुक्खाणि ॥१२९१॥

'तो साधुसत्थपंथं' साधुसार्थस्य पन्थानं । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'पासम्मि' पार्श्वे । 'णिज्जमाणा ते' नीयमानास्ते । 'गारव गहिण कुडिल्ले' चिरऋद्धिरससातगौरवसञ्छन्ने गहने । 'पडिदा' पतिताः । 'पावेंति' प्राप्नुवन्ति । 'दुक्खाणि' दुःखानि ॥१२९१॥

सल्लविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ।
विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

'सल्लविसकंटएहिं विद्धा' मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकण्टकैर्वा विद्धाः 'पडिदा' पतिताः । 'पडंति दुक्खेसु' दुःखेषु पतन्ति । 'विसकंटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव' विषकण्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिनो यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति दार्ष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव पासाओ ।
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिताः—गौरवविषकण्टकवेधादयस्तेत्याशङ्कायां वदति । 'पंथं छंडिय साधुसत्थस्स सो जादि' परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थानं पार्श्वस्थसमीपं याति । 'पासम्मि' पार्श्वे । 'जो पडिसेवदि' यः प्रतिसेवते, 'पासत्थसेवणाओ हु' पार्श्वस्थसेवनातः स निर्धर्मा धर्मश्चारित्रं तस्मादपगतः, धर्मादपगतः सन्पार्श्वस्थाचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इंदियकसायगरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।
णिद्धम्मो हु सवित्ता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयोः क्रोधा

गा०—साधु समूहके मार्गको छोडकर पार्श्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे मुनि ऋद्धि रस गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पडकर तीव्र दुःख पाते हैं ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विषले काँटोंसे बिंधे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशल्यरूपी काँटोंसे बींधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्श्वस्थ मुनि साधु संघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है और चारित्रसे भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोंके कारण रागद्वेषरूप परिणाम

तीव्रत्वात् । 'चरणं' चारित्रं, 'तणं व' तृणमिव, 'पस्सतो' पश्यन् रागाद्यशुभपरिणामस्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वेन सकलुषं ज्ञानचारित्रं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्रानादरः चारित्राद् भ्रष्टो इति निर्दिश्यते । तत: पार्श्वस्थसेवायां प्रवर्तते । 'पासत्थो' ॥१२९४॥

इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।
उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इंदियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरैरुपद्रुता । 'कसायसावदभएण वा केई' कषायश्वापदभयेन वा केचित् । 'उम्मग्गेण' उन्मार्गेण 'पलायंति' पलायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता ।
सण्णाणदीसु पडिदा किलेससोदेण वुड्डंति ॥१२९६॥

'तो' तत: साधुसार्थाद्दूरादपगता:, 'कुसीलपडिसेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पधेण' उन्मार्गेण । 'धावंता' धावन्त: । 'सण्णाणदीसु' संज्ञानदीषु । 'पडिदा' पतिता: । 'किलेससोदेण' क्लेशस्रोतसा । 'वुड्डन्ति' ते बुडन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा वुड्ढा थाहं कहंपि अलहंता ।
तो ते संसारोदधिमदिंति बहुदुक्खभीमम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' संज्ञानदीभिराकृष्टा: ततो निमग्ना: 'थाहं' अवस्थानं 'कहिंपि' कस्मिन्नपि 'अलहंता' अलभमाना: । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदिंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीमम्मि' बहुदु:खभीष्मे ॥१२९७॥

आसागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडफरुसखडसिलासु ।
उल्लोडिदपब्भट्ठा लुप्पंति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोंके तीव्र होनेसे वह चारित्रको तृणके समान मानता है। क्योंकि रागादिरूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं। अत: उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्रको सारहीन मानता है। इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्रसे च्युत होता है। इसीसे उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है। यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोंसे पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वनमें उन्मार्गसे दौड़ते हुए आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पड़कर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता अत: वे बहुत दु:खोंसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आशारूपी पहाड़ोंको लांघते हुए मन-वचन-कायकी

८१

'सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि । 'केई' केचित् । 'इंदियकसायचोरेहिं' इन्द्रियकषाय-चोरैः । 'पविलुत्तचरणभंडा' अपहृतचारित्रभाण्डाः । 'उवहदमाणा' उपहताभिमानाः । 'निवट्टंति' निर्वर्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥१३०३॥

'तो' पश्चात् । 'ते सीलदरिद्दा' ते शीलदरिद्राः । 'दुक्खं' दुःख । 'अणंतं' अन्तातीतं । 'सदा वि पावंति' सदा प्राप्नुवन्ति । 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो । 'दरिद्दो' दरिद्रः । 'पावदि दुक्ख तिव्वं' प्राप्नोति दुःख तीव्र यथा ॥१३०३॥

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो ।
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'सो होदि' स भवति । 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुसार्थान्निवृत्त. । 'जो हवे जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृतिः । 'उस्सुत्तं' उत्सूत्रं । 'अणुवदिट्ठं' अनुपदिष्टं च स्थविरैः । 'जधिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जधाछंदो तस्स धणिदंपि संजमिंतस्स ।
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृतिः । 'तस्स धणिदंपि संजमिंतस्स' तस्य नितरामपि संयमे प्रवर्तमानस्य । 'णत्थि दु' नास्त्येव । 'चरणं' चारित्रं । 'चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव यतेश्चारित्रं । स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्यक्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो ।
परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवारवाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते है—

गा०—साधुसंघसे निकलकर जो पूर्वाचार्योंके द्वारा नही कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०-टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता है। जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है। आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नही है। और सम्यग्दर्शनके विना सम्यक्चारित्र नही होता ॥१३०५॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' कषायाद्यगुरूकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन्। 'परिमाणेदि' अन्यथा गृह्णाति। 'जिणुत्ते अत्थे' जिनोक्तानर्थान्। 'सच्छंददो चेव' स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ जधाछंद ॥१३०६॥

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरितंतो।
जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ॥१३०७॥

'इंदियकसायदोसेहिं' इन्द्रियकषायदोषैः। 'अधवा सामण्णजोगपरिततो' अथवा सामान्ययोगेन दान्तः। 'जो उव्वायदि' यश्चारित्राच्च्यवते। 'सो होदि' स भवति। 'णियत्तो साधुसत्थादो' निवृत्तः साधुसार्थात् ॥१३०७॥

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि।
पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

'इंदियकसायवसिगा' इन्द्रियकषायवशगा। 'केई' केचित्। 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्यशुभस्थानपरिणामानि। 'पाविज्जंति' प्राप्यन्ते। 'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता' दोषैस्तैः सर्वैः सक्ताः। संसत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंछिदा सुत्ते।
इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिकुद्धा ॥१३०९॥

सामान्यनिगद ॥१३०९॥

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य।
दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥१३१०॥

'दुट्ठा' दुष्टा आत्मापराधकारित्वात्। 'चपला' अनवस्थितत्वात्। 'अदिदुज्जया य' अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्रमाहात्म्यसमवकर्णेन वीरेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति। 'णिच्चंपि' नित्यमपि। 'समणुबद्धा य'

गा०—इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नहीं मानता। और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपसे ग्रहण करता है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे गिर जाता है वह साधु संघसे अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब संसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें सक्त होकर उन सब अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकारके पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्‌के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे हैं। ये इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामें अपराध पैदा करते हैं। अनवस्थित होनेसे चपल हैं। इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीवके चारित्र-

सम्यगनुबद्धाश्चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्याश्चेत्कथं चपला: । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः किन्त्वभीक्ष्णे मुहुर्मुहुरनुबद्धा इत्यर्थः । चपलता तु परिणामानां अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । 'दुःखा-वहा य' दुःखावहाश्च । 'जीवाण' जीवानां । अभिमतभोगालाभे प्राप्तस्य वाऽपाये महत् दुःखमित्यनुभवसिद्ध-मेव सर्वप्राणभृतां । कषायास्तु क्रोधादयः कषायन्ति[1] हृदयं । अथवा दुःखकारणासद्वेद्यार्जननिमित्तत्वात् दुःखावहाः । इन्द्रियकषायवशगो जीवान् क्लिश्नाति । दुःखकरणेन चास्रवत्यसद्वेद्यं इति । यत एव दुःखावहा अतएव भीमाः । 'इंदियकसाया' इन्द्रियकषायपरिणामाः ॥१३१०॥

मरुतेल्लंपि पियंतो बत्थो जह वादि पूदियं गंधं ।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायगंधं वहदि कोई ॥१३११॥

'तुरुष्कतैलमपि' 'पियंतो' पिबन्, 'बत्थो' बस्तः अजपोतः । 'जह वादि पूदियं गंधं' पूतिगन्धं यथा वाति । प्राक्तनगन्धं यथा न जहाति सधियमाणोऽपि सुरभिणा द्रव्येण, 'तध दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितो-ऽपि परित्यक्तासंयमोऽपि । 'इंदियकसायगंधं वहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्वहति इति यावत् ॥१३११॥

भुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव ।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भुंजतो वि सुभोयणं' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहारं । 'सूयरो जध समलमेव इच्छदि' सूकरो यथा समलमेवाभिलषति चिरन्तनाभ्यासात् । 'तह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । 'कोइ' कश्चित् । 'इंदियकसायमलिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपनतो भवति । भव्योऽपि जनः

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्टसे इन्हें वशमें कर पाता है। तथा इनका कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं।

शङ्का—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु बार-बारके अर्थमें है। और परिणामोंके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं। इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है। क्रोधादि कषाय हृदयको सताप पहुचाती है। अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें निमित्त है इसलिए दुःखदायी हैं। जो इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह जीवोंका घात करता है। जीवोंके दुःख देनेसे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। और यतः ये इन्द्रिय तथा कषाय दुःखदायी हैं, अतएव भयंकर हैं ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं छोड़ता। उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना पसन्द करता है। उसी प्रकार व्रतोंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ

---

1. तपन्ति अ० । २. धाना नि—आ० मु० ।

गुरूपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तमास्तीति ॥१३१२॥

एतद् अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूरिरुत्तरप्रबन्धेन—

वाहभएण पलादो जूहं दट्ठूण वागुरापडिदं ।
सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

'वाहभएण' व्याधभयेन । 'पलादो मगो' कृतपलायनो मृग. । 'वागुरापडिदं जूहं दट्ठूण' वागुरापतितं स्वयूथं दृष्ट्वा । 'सयमेव वागुरमदीदि मगो' स्वयमेव वागुरां प्रविशति मृग । 'जह' यथा, कुतः । 'जूहतण्हाए' यूथतृष्णया । 'एवं के वि गिहवासं मुच्चा' इत्यनया गाथया सबन्ध कार्य ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामएसु विहरंतो ।
सयमेव पुणो पंजरमदीदि जध णीडतण्हाए ॥१३१४॥

'पंजरमुक्को सउणो' पञ्जरान्मुक्तः पक्षी । 'सुइरं आरामएसु विहरंतो' आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । 'सयमेव' स्वयमेव । 'पुणो' पुन । 'पंजरमदीदि' पञ्जरमुपैति । 'जह णीडतण्हाए' यथा नीडतृष्णया ॥१३१४॥

कलभो गएण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

'कलभो' गजपोत महति कर्दमे पतितः । 'गएण पंकादुद्धरिदो' गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । 'दुत्तरादु' दुस्तरात् पङ्कात् बलिष्ठातिशयवता गजेन । 'सगमेव पुणो पंकं जह अदीदि' स्वयमेव कलभो यथा पङ्कमुपैति । 'जलतण्हाए' जलतृष्णया ॥१३१५॥

अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताणं ।
सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जध अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःखकी निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोंका त्याग करता है किन्तु फिर भी वह उन्हींके चक्रमें पड जाता है ॥१३१२॥

आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इसीको दर्शाते हैं—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमें फँसा देखकर झुण्डके मोहसे स्वय भी जालमें फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वयं ही उसमें फँस जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पींजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोंमें स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही अपने आवासके प्रेमवश पींजरेमें चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचड़में फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया। किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वय ही कीचड़में फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उड़कर स्वयं ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर जा पहुँचता है ॥१३१६॥

'हवत्ताओ सउणो उप्पडिसाणं' वृक्षात्पतत्य पक्षुन.। कीदृग्भूतात् ? 'अग्गिपरिक्खित्तादो' अग्निना समन्तादीप्तितात्। 'सयमेव तं दुमं जह अवीदि' स्वयमेवासौ पक्षी अग्निपरीक्षात्तद्रुममधिगच्छति। 'कोदणिमित्तं' स्वाहारनिमित्तं ॥१३१६॥

संपिज्जंतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण।
उट्ठविदो तं घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहल्लेण ॥१३१७॥

'सविज्जंतो अहिणा' सर्प्यमाणोऽहिना, 'कोइ पासुत्तो' कश्चित्प्रसुप्त, 'जग्गमाणेण उट्ठविदो' जाग्रता उत्थापित.। 'जह तं घेत्तुमिच्छदि' यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, 'कोदुगहल्लेण' कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव।
लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वंतमसणं' स्वयमेव वान्तमशनं। 'सुणहो णिल्लज्जो णिग्घणो' श्वा निर्लज्ज. निर्घृण। 'जहा' यथा। 'सयमेव भुंजदि' स्वयमेव भुङ्क्ते। 'लोला' लम्पट.। 'किविणो' कृपण। 'असणतण्हाए' अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एवं केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता।
इंदियकसायदोसेहि पुणो तं चेव गिण्हंति ॥१३१९॥

'एवं केइ' एवं केचित्। 'गिहवासदोसमुक्का वि' गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्त.। 'दिक्खिदा वि संता' दीक्षिता अपि सन्त.। 'इंदियकसायदोसे' इन्द्रियकषायदोषान्। 'तं चेव' तावदेव गृहवासगतान्। 'गिण्हंति' गृह्णन्ति। कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते। ममेदं भावाधिष्ठान. अनुरतमायालोभोत्पादन-प्रवीणजीवनोपायप्रवृत्त: कषायाणामाकर परेषां पीडानुग्रहयोरावद्धारिकर पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत[1]-कृतव्यापारो, मनोवाक्कायै सचित्ताचित्तानेकसूक्ष्मस्थूलद्रव्यग्रहणवर्द्धनोपायासम, यत्र स्थितो जनोऽसारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दुःखे सुखिता, अहिते हितता, असंघये सध्यणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यकी ओर सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०-टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूप दोषोंका स्वीकार करता है। गृहवासको बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कषायोंकी खान है, दूसरोंको पीड़ा देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढ़ानेके लिए उसमें प्रयास करना होता है। उसमें रहकर मनुष्य असारमें सारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

[1] १. रजक्रसव्यावृत्तव्या—आ० मु०।

'स्वपुरो मज्जो उप्परिसाण' सुप्तादुपरस्य तनुः । कीदृग्भूतात्? 'अग्गिपरिक्खित्तादो' अग्निना समन्तादाक्षिप्तात् । 'सयमेव तं धुमं जह अभीदि' स्वयमेवासौ यदि अग्निपरिक्षिप्तद्रुममधिगच्छति । 'णीदणिमित्तं' स्वापनिमित्तं ॥१३१६॥

लंघिज्जंतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण ।
उट्ठविदो तं घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहलेण ॥१३१७॥

'लंघिज्जंतो अहिणा' लङ्घ्यमानोऽहिना, 'कोइ पासुत्तो' कश्चित्प्रसुप्तः, 'जग्गमाणेण उट्ठविदो' जाग्रता उत्थापितः । 'जह तं घेत्तुमिच्छदि' यथा तं ग्रहीतुमिच्छति, 'कोदुगहलेण' कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।
लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वंतमसणं' स्वयमेव वान्तमशनं । 'सुणहो णिल्लज्जो णिग्घिणो' श्वा निर्लज्ज निर्घृण । 'जहा' यथा । 'सयमेव भुंजदि' स्वयमेव भुङ्क्ते । 'लोलो' आसक्तः । 'किविणो' कृपणः । 'असणतण्हाए' अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एवं केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता ।
इंदियकसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥१३१९॥

'एवं केइ' एवं केचित् । 'गिहवासदोसमुक्का वि' गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ताः । 'दिक्खिदा वि संता' दीक्षिता अपि सन्तः । 'इंदियकसायदोसे' इन्द्रियकषायदोषान् । 'ते चेव' तानेव गृहवासगतान् । 'गिण्हंति' गृह्णन्ति । कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । ममेदं भावाधिष्ठानः अनुपरतमायालोभोत्पादनप्रवीणजीवनोपायप्रवृत्तः कषायाणामाकरः परेषां पीडानुग्रहयोरवहितकरः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत[1]व्यापारो, मनोवाक्कायैः सचित्ताचित्तानेकसूक्ष्मस्थूलद्रव्यग्रहणवर्धनोद्योगायासः, यत्र स्थितो जनोऽसारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दुःखे सुखिता, अहिते हितता, असंश्रये संश्रयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यके ऊपरसे सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०-टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूप दोषोंको स्वीकार करता है। गृहवासको बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कषायोंकी खान है, दूसरोंको पीड़ा देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढ़ानेके लिए उसमें प्रयास करना होता है। उसमें रहकर मनुष्य असारमें सारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

1. स्वव्यापारव्यापृतव्या-आ० मु०।

... गड़ी पत्तलं दान इदं मब्भदगु ॥१२४॥

... कलत्तुम्मत्तो उम्मत्तो नव ण पित्तउम्मत्तो ।

... तिनुम्मत्तो ताव इओ अनुम्मत्तो ॥१२५॥

... कहत्त दु पियाए ।

... गुणमग्गे ॥१२६॥

... [illegible] ॥१२७॥

'कुलजादस्स पुरिसस्स जसमिच्छंतस्स' कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिलाषिणः । 'मिदणं वरं' मृतिः शोभना । 'ण दु जीविदुं जे' नैव वरं जीवनं । 'दिक्खिदेण इंदियकसायवसिदस्स' दीक्षितस्येन्द्रियकषायवशवर्तिनः जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ।
णिंदिज्जदि तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

'यथा रथो पलायंतो णिंदिज्जदि' यथा रथी पलायमानो निन्द्यते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो' सन्नद्धः उपगृहीतचापकाण्डः । तथा 'इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निन्द्यते ॥१३२८॥

जध भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।
णिंदिज्जइ तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जध भिक्खं हिंडंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निन्द्यते । तथा निन्द्यते इन्द्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजितः ॥१३२९॥

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ।
सो चित्तकम्मसमणोव्व समणरूवो असमणो दु ॥१३३०॥

'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नग्नश्च यो मलिनगात्रः सन् । 'सो समणरूवो न समणो' स श्रमणरूपो न श्रमणः 'स चित्तकम्मसमणो व्व' स चित्रकर्मश्रमण इव । परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥१३३०॥

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायजयमुखेन यथा सत्त्ववत् प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयती-

---

गा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

गा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धसे भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए घूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०-टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित श्रमणके समान श्रमणरूपका धारी होनेपर भी श्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमें अंकित श्रमण वास्तविक श्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी श्रमण नहीं है उसी प्रकार श्रमणका वेष धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ हैं वह श्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

'सद्देण मओ' शब्देन मृगः वनपर्यन्तमधुरसुरभितृणाग्रग्रासेन, मृदुपवनालीनशीतस्फटिकसंकाशपानीय-पानेन च पुष्टतनुः कश्चिदिव मनसोऽप्यधिकवेगो हरिणो व्याधकलगीतश्रवणेन मुखाकुलितलोचनः, दुष्टयमदंष्ट्रासमानतीक्ष्णविशालबाणाभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान्। 'रूवेण पदंगो य' एककलिकाकारप्रदीपकरूपेण अनिपुणानुरागः पतंगो दीपशिखि भस्मतामुपयाति। 'वणगओ वि फरिसेण' वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशासु, संसृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लकीतरुणशाखाहारः, रम्यगिरिनदीविपुलह्रदेषु स्वेच्छापानावगाहननिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीतिः, अनुकूलानेककरिणीकदम्बकेनानुगम्यमानो करिणीविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्मदकलो विवेकशून्यो रागबहुलतिमिरपटलावगुण्ठितलोचनो महति गर्ते निपतितः परं दुःखमवगाहते। 'मच्छो' मत्स्यः युवजनमनःसरोवरविलासिनीविलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यतः बडिशाग्रस्थमांसलोलुपो विपद्गह्वरं प्रयाति। विविधसुरभिप्रसूनरजोरञ्जितरागो भ्रमरः विषपादपकुसुमगन्धेनापहृतजीवितप्राणो भवति। एवमेते दोषाः ख्यापिताः ॥१३४७॥

तिरश्चां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनितं मनुजगतौ दर्शयति—

इदि पंचहि पंच हदा सद्दरसफरिसगंधरूवेहिं।
इक्को कहं ण हम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहिं ॥१३४८॥

गा०-टी०—वनमें हिरण मुखके वाणसे टूटनेवाले मधुर सुगन्धित तृणोंके अग्रभागोंको खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट होता है। उसकी गति मनसे भी तीव्र होती है। वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर सुखसे अपनी आँखें मूँद लेता है। और दुष्ट यमराजकी दाढ़के समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोंको त्याग देता है। एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग करनेवाला पतंगा दीपककी लौमें जलकर भस्म हो जाता है। वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह जिसमें प्रवेश करना कठिन है, जो संसारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लांघना अशक्य है ऐसे महान् वनमें सल्लकीके तरुण वृक्षोंकी शाखा खाता है, रमणीक पहाड़ी नदी और बड़े-बड़े तालाबोंमें स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक अनुकूल हथिनियोंका समूह उसके पीछे चलता है, हथिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमें अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्धकारके पटलसे आँखें बन्द कर लेता है और महान् गर्तमें गिरकर कष्ट भोगता है। युवा पुरुषोंके मनरूपी सरोवरमें विलास करनेवाली स्त्रियोंके लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोड़ेसे भोजनकी लोलुपतावश शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ जाता है। अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंके समूहको रजसे आवेष्टित भौरा विषवृक्षके फूलकी गन्धसे प्राण खो देता है। इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वश होकर ये कष्ट उठाते हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोंका विषयरागसे उत्पन्न दुःख कहकर मनुष्य गतिमें कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोंके द्वारा पाँच जीव अपने प्राण गँवाते हैं। तब जो एक ही पुरुष पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा पाँचों विषयोंका सेवन करता है वह प्राण क्यों न गँवायेगा ॥१३४८॥

१. मरमारो-आ०। २. एतां टीकाकारो नेच्छति।

सरजूए गंधमित्तो घाणिंदियवसगदो णिणादाए।
विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरजूए' सरय्वा नद्यां। 'गंधमित्तो' गन्धमित्रो नाम भूपतिः। 'मदो' मृतः। 'णिणादाए' निम्नगायां। ...पति। 'घाणिंदियवसगदो' घ्राणेन्द्रियवशगतः। 'विसगंधपुप्फमग्घाय' विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय। 'मदो' मृतः। णिरयं च संपत्तो नरकं च सम्प्राप्तः ...॥१३४९॥

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसद्देण मुच्छिदा संती।
पासादादो पडिदा णट्ठा गंधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पांचालस्य गीतशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया गणिका ॥१३५०॥

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि।
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरयं ॥१३५१॥

'मानुसमंसपसत्तो' मानुषमांसप्रसक्तः काम्पिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृतः पश्चान्नरकमुपयातः ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ।
विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयश्चौरोऽपि युवतिरूपाकृष्टदृष्टिः शरविद्धेक्षणो मृतो नरकमुपगतः ॥१३५२॥

फासिंदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के।
मारेदूण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिंदिएण' स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना। 'गोवे सत्ता' आत्मीये गोपाले आसक्ता। 'गिहवदिपिया'[1]

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमें होकर सरयू नदीमें विषैले फूलकी गन्धको सूंघकर मरा और नरकमें गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयंकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था। इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११३ नम्बर पर है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें गंधर्वदत्ता नामक गणिका पंचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्छित हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११४ नम्बर पर है।

गा०—कंपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मांसका प्रेमी था। वह राज्यसे निकाला जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है।

---

१. वदि गिहिणी—अ० आ०।

राष्ट्रकूटभार्या। 'णासवके' नासिक्ये नगरे। 'मारेदूण सपुत्तं' स्वपुत्रं हत्वा। 'धूदाए' दुहित्रा। 'पच्छा' पश्चात्। 'मरिदा' मृतिं नीता ॥१३५३॥ इन्दिया।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य क्रोधदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंतत्तो।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व ॥१३५४॥

'रोसाविट्ठो' रोषाविष्टः। नीलवर्णो भवति 'हदप्पभो' विनष्टदीप्तिः। 'अरदिअग्गिसंतत्तो' अरत्यग्निसंतप्तः। 'सीदे वि णिवाइज्जदि' शीतेऽपि तृषितो भवति। 'वेवदि' वेपते च। 'गहोवसिट्ठोव' ग्रहेणोपसृष्ट इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भृकुटीत्रिवलितवदनो। 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो' उद्गतनिश्चलसुरक्तरूक्षाक्षः। 'रोसेण' रोषेण हेतुना। 'रक्खसो' राक्षस इव। 'णराण भीमो णरो होदि' नराणां भीमो भयावहो भवति नरः ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'तत्तलोहं गहाय' तप्तलोहं गृहीत्वा। किमर्थं? 'रुट्ठो परं हणामित्ति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोंके रूपको देखनेका अनुरागी था। उसकी आँखमें बाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—वृ० क० को० में इसकी कथा ११६ वी है। उसमें सुवेगको म्लेच्छराज कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमें गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने ग्वाले पर आसक्त थी। उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लड़कीने अपनी माको मार दिया ॥१५५३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमें ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०-टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, अरतिरूपी आगसे संतप्त होता है। ठंडमें भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे गृहीत की तरह क्रोधसे काँपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढ़नेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती है, लाल लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती है। इस तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षस की तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है ॥१३५६॥

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥१३६१॥

'जह करिसयस्स' यथा कर्षकस्य धान्यं वर्षेण समार्जितं खलप्राप्तं दहति विस्फुलिङ्गो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सारं पुण्यधनं ॥१३६१॥

जध उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो ॥१३६२॥

'जह उग्गविसो उरगो' यथोग्रविष उरगो। दर्भतृणाङ्कुरहत उत्पन्नप्रचुररोषस्तत्समुपनयन् स्पष्ट तृणादिक भक्षयित्वा झटिति निर्विषो भवति। तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो।
होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥१३६३॥

'पुरिसो मक्कडसरिसो' पुरुषो मर्कटसदृशो भवति सुरूपोऽपि सन् रोषोपहतरूपः। इह जन्मनि दोषानुपदर्श्य पारभविकमाचष्टे—'होदि' भवति। जन्मसहस्रेषु दुरूप एकभवकृतात्कोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'सुट्ठुवि' नितरामपि। जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति। कस्य? 'कुद्धस्स अकज्जकरणेण' क्रुद्धस्य अकार्यकरणेन ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि [1]रुट्ठो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा।
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रमसे प्राप्त खलिहानमें आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमें उपार्जित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेसे मारने पर वह अत्यन्त रोषमें आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुख-वाला विरूप हो जाता है। इस जन्ममें क्रोधके दोष दिखलाकर परलोकमें दिखलाते हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारों जन्मोंमें कुरूप होता है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेसे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त मात्रमें ही द्वेषका पात्र होता है। तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

---

1. वि कुद्धो आ० मु०।

'घोयल्लगो वि 'एदूठो' बन्धुरपि बन्धुरहितोऽपि रिपुः। हन्ति वान्धवान्। म्रियते वा स्वयं तेनाग्मानं वा हन्यात् ॥१३६५॥

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव ।
जगविस्सुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'पुज्जो वि' पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण। तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माहात्म्यं नश्यति रोषिणः ॥१३६६॥

हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।
तो ते सव्वे हिंसालियादि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंसं अलियं चोज्जं' हिंसामसत्यं चौर्यं चाचरति जनस्य रोषदोषेण। तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

वारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।
बद्धं च तेण पावं दुग्गदिभयवंधणं घोरं ॥१३६८॥

'वारवती' द्वारवती। निरशेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन। घोरं च पापं बद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं। 'कोधुत्ति गदं' ॥१३६८॥

मानदोषप्रकटनार्थं प्रबन्ध उत्तरः—

कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरियत्थमदितवादीहिं ।
अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूवाणा' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मत्या तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्नीचैर्गोत्रं कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोंको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है। उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है। क्रोधीका जगत्‌में प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है, चोरी करता है। अतः उसमें हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधमें समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी। और दुर्गतिमें ले जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

गा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमें अपनेको बड़ा

---

१. विसुदो आ०। २. लियचोज्ज समुब्भवा दोसा–मु०।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा ॥१३७०॥

'दट्ठूण अप्पणादो' आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्वहन्ति । बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्ध्यावलोक्य मानं निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

'माणी विस्सो सव्वस्स' मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलहं, भयं, वैरं, जन्मान्तरानुगं दुःखं च प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चावमानं ॥१३७१॥

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।
माणेण चेव मेघुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

'सव्वे वि कोधदोसा' क्रोधस्य वर्णिता दोषाः । 'न गुणे पिच्छदि' इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषायस्यापि ज्ञातव्याः । मानेन मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रवर्तते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

'सयणस्स' मानरहितः स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । 'लोए' लोके । 'णाणं' ज्ञानं । 'जस' यशः, 'अत्थ' द्रविणं लभते स्वं कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥१३७४॥

'ण य परिहायदि' मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनायमर्थहानिभयान् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेसे हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं । किन्तु विद्वान् अपनेसे बड़ोंको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं । वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा इस लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना । मानसे मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है । वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भयसे मनुष्य मान करे । विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सट्ठिं साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स सगरवीरस्स ।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

'सट्ठि साहस्सीओ' सगरस्य सगरवीरस्य षष्ठिसहस्रसंख्या पुत्रा महाबला [नष्टा मान]दोषेण ॥१३७५॥ मानगिगदं ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

'जध कोडिसमिद्धो वि' यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा माया-शल्येन न निर्वृत्तिं लभते तपःसमृद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स ।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

'होदि य वेस्सो' द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमतः । बान्धवानामपि शत्रुरचिरेण भव[ति] मायादोषेण ॥१३७७॥

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावदि दोसं' प्राप्नोति दोषं महान्तं अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि ना[श]यति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशनं च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।
णासदि मायादोसा विसजुददुद्धंव सामण्णं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोपके का[रण] मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें कीलकाँटा घुसा हो [तो] शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपसे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें माया[रूपी] शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोपसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है, उसका कोई विश्वास नहीं करत[ा] [स]ुजन भी उसका अपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जा[ता] है ॥१३७७॥

गा०—अपने द्वारा थोड़ा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बन[ता] है । एक बारका भी मायाचार हजारों सत्योंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भा[गी] होना और हजार सत्योंका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोगिगकज्जपरिहाणी' ऐहलौकिककार्यविनाशः । 'णासदि सामण्णं' नश्यति श्रामण्यं । 'मायादोसा' मायाख्य दोषाद्धेतोः । 'विसजुददुद्धं व' विषयुतदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाशः श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषो ॥१३७९॥

माया करेदि णीचागोदं इत्थी णवुंसयं तिरियं ।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोदं' माया करोति नीचैर्गोत्रं कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुंसयं-तिरियं' स्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं, तिर्यग्गतिं च नामकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्वं वा । 'मायादोसेण' [1]मायासमर्जितेन दोषेण । 'भवसदेसु' जन्मशतेषु । 'डंभिज्जदि' वंच्यते । 'बहुसो' बहुशः ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥१३८१॥

'कोधो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सस्सो य भरधगामस्स सत्तसंवच्छराणि णिस्सेसो ।
दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' सस्यं । 'भरधगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसंवच्छराणि' वर्षसप्तकं । 'णिस्सेसो दड्ढो' निरवशेषं दग्धं । 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना । 'रुट्ठेण कुंभकारेण' रुष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायागता ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारसे मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका विनाश होता है। तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

गा०-टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है। तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और तिर्यञ्चगति नाम कर्मका बन्ध करती है। अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है। मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सैकड़ों जन्मोंमें बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेसे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं। क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषसे रुष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

---

1. मायासंजनितेन—मु० ।

'लोभेण' लोभेन हेतुना। 'आसाधत्तो' ममेदं भविष्यतीत्याशया ग्रस्तः। 'पावदि दोसे' प्राप्नोति दोषान्। 'बहुं कुणदि पावं' पापं च बहु करोत्याशावान्। 'णीए' बान्धवान्। 'अप्पाणं वा' आत्मानं वा। 'लोभेण' लोभेन। 'णरो ण विगणेदि' न विगणयति। बान्धवानपि बाधते स्वशरीरश्रमं च नापेक्षते इति यावत् ॥१३८३॥

वस्तुनः सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशयः येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्तं आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं।
[1]लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणो वि जादो' लोभस्तृणेऽपि जातो। 'जणेदि पावं' जनयति पापं। 'इदरत्थ' इतरत्र सारवति वस्तुनि। 'किं वच्चं' किं वाच्यं। 'लगिदमगुडादिसंगस्स वि' स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति। 'अलोहस्स' लोभकषायवर्जितस्य मुकुटादेः सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमंधरस्स पुत्तो मियद्धओ नाम।
भद्दयमहिसनिमित्तं जुवराया केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽस्यासयानुरागः स नास्ति द्रव्यत इत्याचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा बृ० क० को० मे १२० नम्बर पर है उसमें गाँवका नाम भरण दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते हैं—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशामें ग्रस्त होकर बहुत दोष करता है; बहुत पाप करता है। लोभमें अपने कुटुम्बियोंकी और अपनी भी चिन्ता नहीं करता। उन्हें भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या असार होनेसे कर्मबन्धमें कोई विशेषता नहीं होती। जिससे किसी द्रव्यमें उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबंधमें निमित्त होता है क्योंकि वह ममत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममें निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं—

गा०—तृणमें भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमें हुए लोभका तो कहना ही क्या है? जो लोभकषायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नहीं होता। अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमें बन्धका कारण नहीं है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमें सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामक था। वह भद्रक नामक भैंसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—बृ० क० को० में मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमें जो अनुराग है वह नहीं होनेसे बन्ध नहीं होता यह कहते हैं—

1. १३८४-४० आ०।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं ॥१३८६॥

'तेलोक्केण वि' त्रैलोक्येनापि । 'चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि' चित्तस्य निर्वृतिर्नास्ति । 'लोभघत्थस्स' लोभग्रस्तस्य । 'संतुट्ठो' सन्तुष्टः मनसा केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । 'अलोभो' द्रव्यगतमूर्च्छारहितः । 'लभदि' लभते । 'दरिद्दो वि' दरिद्रोऽपि । 'णिव्वाणं' निर्वाणं । सन्तोषायत्ता चित्तनिर्वृतिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गंथदोसा लोभकसायस्स हुति णादव्वा ।
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

'सव्वे वि गंथदोसा' सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्याताः ते सर्वेऽपि । 'लोभकसायस्स' लोभकषायस्य. लोभः कषायोऽस्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीय । 'लोभेण चेव' लोभेन चैव । मैथुनं, हिंसां, अलीकं, चौर्यं चाचरति । ततः पापक्रियाणां सर्वस्या आदिमान् लोभः ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वच्छं घित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिधणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'रामस्स' रामस्य । 'जामदग्गिस्स' जामदग्न्यस्य । 'वच्छं' वत्सं । 'घित्तूण' गृहीत्वा । 'कत्तविरिओ वि' कार्तवीर्योऽपि । 'णिधण पत्तो' निधनं प्राप्तः 'सकुलो' सबन्धुवर्गः । 'ससाहणो' सबलः । 'लोभदोसेण' लोभदोषेण ॥१३८८॥ लोभः ।

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोसं णिव्वुदिविग्घं कसायरिवू ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०-टी०—जो लोभसे ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता। और जो शरीरकी स्थितिमें कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिसे वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है। अतः चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है। महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना। लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है। अतः समस्त पापक्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०——जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोंको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युको प्राप्त हुआ। परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—बृ. क. को. मे कार्तवीर्यकी कथा १२२ नम्बर पर है।

उत्तरगाथा -

इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दुःखावहेसु पुरिसं पसढिलणिव्वेदखलिणा हु ॥१३९०॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ताश्वाः । 'पाडेंति' पातयन्ति । 'दोसविसमेसु' पापविषम-स्थानेषु । 'दुक्खावहेसु' दुःखावहेषु । 'पुरिसं' पुरुषान् । 'पसढिलणिव्वेदखलिणा' प्रशिथिलनिर्वेद-खलिना ॥१३९०॥

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखलिणलिदा संता ।
उज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३९१॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ततुरङ्गा: वैराग्यखलीननियमिता: सन्तः ध्यानकशाभीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ।
पब्भट्ठज्झाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टा: बहुवेदनावष्टब्धाः पुरुषाः प्रभ्रष्टध्यानसुखा: संयमजीवं परित्य-जन्ति ॥१३९२॥

उज्झाणागदेहि इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।
णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

[illegible]कषायभुजगा वैराग्यमन्त्रैर्नियम्यमाना: साधोः संयमजीवितं न हरन्ति ॥१३९३॥

[illegible] चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
[illegible] इंदियकंडा विंधंति पुरिसमयं ॥१३९४॥

'सुमरणपुंखा' स्मरणपुन्खाः 'चिंतावेगा' विषयविषेणालिप्ता रतिर्धारा येषां ते मनोधनुर्मुक्ताः इन्द्रिय-बाणाः पुरुषमृगं घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्बाणान्पुरुषमृगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इंदियकंडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता ।
[1]वारंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दट्ठूण ॥१३९५॥

'धिदिखेडएहिं' धृतिखेटैः इन्द्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्वसमन्विताः । 'समणजोहा' श्रमणयोधाः सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गंथाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा ।
विद्धंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥१३९६॥

'गंथाडवीचरंतं' परिग्रहवने चरन्तं कषायविषकंटकाः प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपान-द्रहितं पुरुषं ॥१३९६॥

संयतस्य पुनरेवपरिकरस्य कषायविषकंटकाः किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरि—

आइद्धधिदिदढोवाणहस्स उवओगदिट्ठिजुत्तस्स ।
ण करिंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

'आबद्धधिदिदढोवाणहस्स' आबद्धधृतिदृढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुनेः स्वल्पमपि दुःखं न कुर्वन्ति कषायविषकंटकाः ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियाँ बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको बींधती है। बाणमें पुंख होते हैं। भोगे हुए भोगोंका स्मरण इनका पुंख है। भोगोंकी चिन्ता इनका वेग है। रति इनकी धारा-गति है जो विषयरूपी विषसे लिप्त है। ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोड़े जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते हैं कि पुरुषरूप मृगोंका घात करनेमें तत्पर उन बाणोंको संयमीजन ही निवारण करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोंका वारण करते हैं ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमें कषायरूपी विषैले काँटे फैले हैं। प्रमाद उनका मुख है और विषयोंकी चाहसे वे तीक्ष्ण हैं। धैर्यरूपी दृढ़ जूतेको धारण किये बिना जो उस वनमें विचरण करता है, उसे वे काँटे बींध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले संयमीका वे कषायरूप विषैले काँटे कुछ भी नहीं करते—

गा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ़ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले काँटे कुछ भी दुःख नहीं देते ॥१३९७॥

---

१. फेडन्ति—मु० मूलारा०।

इंदियकसायहत्थी वयवारिमोणिदा उवायेण ।
विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादुं ॥१४०३॥

'इंदियकसायहत्थो' इन्द्रियकषायहस्तिनः उपायेन व्रतवारीमुपनीताः विनयवरत्राबद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतुं ॥१४०३॥

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ।
धीरेहिं रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकषायहस्तिनः शीलपरिघोल्लङ्घनमिच्छन्तो रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णमूलप्रहारैः ॥१४०४॥

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥१४०५॥

'इंदियकसायहत्थो' इन्द्रियकषायहस्तिन दुःशीलवनं प्रवेष्टुं यदाभिलषन्ति तदा अवशा अपि वशे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानांकुशेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ।
विण्णा णज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंधहत्थी' यद्यपि विषयगन्धहस्तिनः स्वयं धन्याटवीं प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्विज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानांकुशेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते ।
पसमे रमेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोला. बाला इन्द्रियकषायहस्तिनः ते रतिमुपनेया. प्रशमेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाड़ेमें ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बांधे जानेपर वशमें लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लांघना पसन्द करते हैं। अतः धीर पुरुषोंको उनके दोनों कानोंके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमें प्रवेश करना चाहें तो उसे ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानांकुशके विना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमें नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमें प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—जो इन्द्रिय और कषायरूप बालहस्ती विषयरूपी वनमें क्रीड़ा करनेके प्रेमी होते हैं। उन्हें प्रशमरूपी वनमें अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमें रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

---

१. मदीणि–अ० मु०, मूलारा० । २. चेट्ठेज्ज आण–मूलारा० ।

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे सुभे य असुभे य ।
तम्हा रागद्दोसं परिहर तं इंदियजएण ॥१४०८॥

'सद्दे रूवे गंधे रसे य' शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इन्द्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थ. ॥१४०८॥

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पियदि ।
कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुइहेदुं तह [1]पिविज्ज ॥१४०९॥

'जह णीरसं पि' यथा स्वादुरहितं कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिबति । तथा इन्द्रियजयं भजते कटुकमपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्कायां इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वं अनवस्थितं । ये शुभास्त एवेदानीं अशुभा , अशुभा ये ते एव शुभा. । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि ? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हिं असुभा ते चेव पुग्गला जादा ।
जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥१४१०॥

'जे आसि सुभा एण्हिं' ये पुद्गलाः शुभा आसन्निदानी त एवाशुभा जाताः । ये चासन्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानीं इति वो न युक्तो रागद्वेषो इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते भुत्ता चत्ता वि य तह अणंतखुत्तो मे ।
सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविजडेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कडुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है। जो विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं। जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगते हैं। जिन्हें अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमें द्वेष कैसा ? जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं। जो पहले बुरे प्रतीत होते थे वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं। उन भोग और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे आश्चर्य कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना चाहिए ॥१४११॥

1. [illegible]

'सव्वे वि ते भुत्ता' सर्वेऽपि च ते पुद्गलाः शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्तवारं मया। तेषु द्रव्येषु भुक्तत्यक्तार्येषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तवानुरागो, दुःखसाधनतया च रोषः सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीनां रूपाणां नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मन इति वदति—

रूवं सुभं च असुभं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि।
संकप्पविसेसेण दु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥१४१२॥

'रूवं सुभं च असुभं' रूपं शुभमशुभं वा किञ्चिद्दुःखं सुखं च नैव करोति। सङ्कल्पवशेनैव सुखं वा दुःखं भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खू ॥१४१३॥

'इह य परत्त य' जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्यं चक्षुः ॥१४१३॥

एवं सम्मं सद्दरसगंधफासे विचारयित्ताणं।
सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एवं सम्मं' उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्धया शेषाण्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्शविषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता। 'सद्दरसगंधफासे' इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा सवदि असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं।
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥१४१५॥

'जदिदा सवदि असंतेण' यदि तावदसता दोषेण शपति परः स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या। असद्दोषस्थापनेनास्य मम किं नष्टं इति। अथवानुकम्पा आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसदभिधानेन ममार्जयति पाप-

---

आगे कहते हैं यदि सुखका साधन होनेसे इनमें तेरा अनुराग है और दुःखका साधन होनेसे द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें वही सुख-दुःख साधनता तेरे संकल्पके सिवाय यथार्थमें नहीं है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दुःख नहीं करता। जगत्में संकल्पवश ही सुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमें ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए; क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई? अथवा

भारं अनेक दुःखावहं । मदीयैर्दोपैरस्य किञ्चिन्नायाति दोषजातं । गुणैर्वा किमस्मै किञ्चिद्भवति ? प्राणि प्रतिनियता गुणदोषास्ततमेव प्रति सुखदुःखयोजना[1]स्ततो पुरसृतो (?) मुधानेन कर्मबन्धः सम्पा इति ॥१४१५॥

चिन्ता करुणात्मिका रोषं परमपमारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं ।
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

'जदि वा सवेज्ज' यदि वा शपेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽन्येन कथ्यमानो दो ममास्ति न व्यलीकं तेनोक्तमिति [2]मङ्कल्पतया न हि [3]सन्तो दोषाः परे चेद् न ब्रुवन्ति इति विनश्यन्ति ॥१४१६

यो यस्य समुपकारं महान्तं चेतसि करोति स तस्यापराधं अल्पं सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इ कथयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ।
मारिज्जंतो [4]वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

'सत्तो वि चेव' शप्त एवास्मि न हतः इत्यहननं गुणं पृथु चेतसि संस्थाप्य किमनेन शपनेन नष्टमिति क्षन्तव्यं । एवमितरत्रापि योज्यं । हत एव न मृत्युं प्रापित. । मार्यमाणोऽपि सहेत विपन्निमूलन क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोषविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूंठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार एकत्र करता है। मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई लाभ होता है। प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उन्हें ही होता है। अतः यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०——यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि यह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है। वह झूंठ नहीं कहता। विद्यमान दोषोंको दूसरे यदि न कहें तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चित्तमें स्थापित करके 'अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ' अतः क्षमा करना चाहिए। मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जड़से दूर करनेमें समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

---

1. ना पर नृत्तो—अ० । ना पुर मुता—आ० । ना परो मृतो—ज० । 2. संकल्पतया—मु० । 3. सतो दोषान्—आ० । 4. वि समेज्ज—अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्गिणा सव्वो ।
पावं च करिज्ज महं बहुगंपि णरेण खमिदव्वं ॥१४१८॥

'रोसेण महाधम्मो' दुरर्जनो दुर्लभो दुश्चरो धर्मोऽनुयायी रोषेण [1]मदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव । तथा चाभ्यधायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातैः सधुक्षितः परुषवाग्गुरुविस्फुलिंगः ।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थितवैरधूमः क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवनं नराणाम् ॥ इति॥ [ ] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपावं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ।
रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्वं ॥१४१९॥

'पुव्वकदमज्झपावं' पापागमद्वारमजानता [2]अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृतं यत्कर्म पापं परेषां दुःखकारणं तदद्य निर्वर्तितं । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिन्तयताऽपसारयितव्यो रोषः ॥१४१९॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१३२०॥

'पुव्वं सयमुवभुत्तं' पूर्वं स्वयमेव भुक्तं, अवधिकाले प्राप्ते । 'णायेण' नीत्या । द्रव्यं अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःखं करोति ॥१४२०॥

गा०-टी०—आगसे तृणकी तरह क्रोधसे दुःखसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर मेरा धर्म नष्ट होता है। कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है। यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठसे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भड़काती है। कठोर वचनरूपी उसके बड़े स्फुलिंग हैं। हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोंमें दुःखका बीज है। इसलिये चित्तमें क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आस्रवके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमें पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दुःखका कारण था, वह आज चला गया। आज मैं उस ऋणसे मुक्त हो गया। ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१३१९॥

गा०-टी०—पूर्व जन्ममें मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममें उस अपराधसे उपार्जित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दुःख कैसा? साहूकार से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वयं भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल आने पर देते हुए कौन कर्जदार दुःखी होता है ॥१४२०॥

---

1. महानपि न–आ० । 2. अनेना–ज० ।

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वो हवइ कोधो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽत्रासकृत्प्राप्ते [1]ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्रविणप्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को मह माणो।
को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणणकरणं' योऽवमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति। न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो।
इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोंको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोंको कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व क्या, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हूँ। उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमें बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अभिमान कैसा? तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कैसा? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान नहीं करता वह मानी होता है। गुण रहित मानसे मानी नहीं होता ॥१४२४॥

[1] ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे–आ० मु०।

इह च परत्र च जन्मद्वये दोषान् बहूनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

'अदिगूहिदा वि दोसा' अतीव संवृता अपि दोषा जनेन ज्ञायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिन्तया निहन्ति ॥१४२६॥

[1]परिभागम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ।
जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥१४२८॥

'जणपायडो वि दोसो' लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजलं समलमिति सदपि । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्यं । प्रकटेऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषनिगूहनं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोत्यर्थार्थं तथापि सार्थकत्वं वि वदति—

डंभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमें मान बहुत दोषकारी है। ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोंका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमें मनुष्योंको ज्ञात हो जाती है। तब मायाचार करनेसे क्या लाभ है। इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमें प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०-टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता। जैसे तालाबका जल मैला हो तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते। आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्में मान्य रहता है। मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

आगे कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह सैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमें पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

---

1. परिभोगम्मि—ज० । एतां टीकाकारो नेच्छति ।

'दंभसदेहिं बहुगेहिं' दम्भशतैर्बहुभिः सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्तं नायात्यर्थः। अन्यस्मात्पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

'इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहून्दोषानावहति माया। इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३१॥

'लोभे कदे' लोभे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य। अकृतेऽपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवतः। ततः अर्थागमनिरर्थलाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्यः ॥१४३१॥

अपि च 'अर्थप्राप्तये जनः प्रयतते अर्थाः पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मनःप्रणिधानं कुरु लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।
अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सव्वे वि जगे अत्था' सर्वेऽपि जगत्यर्थाः परिगृहीता मयानन्तवारं ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीतत्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

[illegible] ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमें बहुत दोष लाती है ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नहीं होता, और लोभ नहीं करनेपर भी पुण्यवान[illegible] धन होता है। [illegible] धनका लाभ धनलाभमें निमित्त नहीं है किन्तु पुण्य निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

[illegible] लिए मनुष्य प्रयत्न करता है। किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और [illegible] है। [illegible] कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमें चिन्तन करो, यह कहते हैं—

गा०—[illegible] मैंने अनन्तबार प्राप्त किये। उन ग्रहण किये और [illegible] ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस लोक और परलोकमें बहुत दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको [illegible] ॥१४३३॥

[illegible] प्रकार [illegible] और [illegible] कथन किया।

१. [illegible]

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति सूरिः—

णिद्दं जिणाहि णिच्चं णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ ।
वट्टिज्ज हु पासुत्तो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

'णिद्दं जिणाहि' निद्रां जय नित्यं। अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्कय आह 'णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ' निद्रा नरं अचेतनं करोति। चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति। अत्रोच्यते–विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते। यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहित अत एव। 'वट्टिज्ज हु' वर्तते एव। 'पासुत्तो' प्रकर्षेण सुप्तः 'खवओ' क्षपकः। 'सव्वेसु दोसेसु' हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं ।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणसु संवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥

'जदि अधिवाधिज्ज तुमं' यद्यधिबाधेत भवन्तं निद्रा। ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं। 'सुहुमत्थे वा चिंतेहि' सूक्ष्मान्वार्थान् चिन्तय। 'सुणसु संवेगणिव्वेगं' शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनी वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ।
एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

'पीदी भए य सोगे' प्रीत्यां भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति। तेन प्रीत्यादिसेवां कुरु त्वं निद्राविजितये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो। नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती। तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है।

इसलिए जो गहरी नीदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है। उसे मैं कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हे निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो। या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो। अथवा संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती। अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयशोकानां अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्रवनिमित्तता । निद्रया वा प्रतिविशेषात् [illegible]
निरुध्यते प्रीत्यादिकं इत्याशङ्कायां संवरहेतुभूततया सम्प्रति प्रीत्यादिविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि ।
सोगं च पुराढुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

'भयमागच्छसु' भयं प्रतिपद्यस्व । 'संसारादो' संसारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनायां । शोकं उपैहि पूर्वकृतात् दुश्चरितात् निद्रां विजेतुं । नरकादिगतिषु भ्रमणकाले [illegible] शारीरमागन्तुकं मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं विविधमनुभूतं तत्पुनरप्यागमिष्यति इति मन प्राप्नोति । सकलापन्महीरुह-मुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिःश्रेयससुखानि च प्रापयितुं, असारशरीरभारमपनेतुं, अनन्तज्ञानदर्शनसाम्राज्यश्रिय-माक्रष्टुं, कर्मविषविटपानुत्पाटयितुं क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अलब्धपूर्वां रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विविधकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारतं मन्दभाग्यः प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुखबुद्धितया सन्मार्ग-स्योपदेष्टृणामनुपलम्भात्प्रबलज्ञाना[1]वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धया, चारित्र-मोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेश्च दुःखाम्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शंका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोके आस्रवमें निमित्त होते हैं। अतः उनमें और निद्रामें कोई अन्तर नहीं है। तब जो संवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें संवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप संसारसे भय करो। रत्नत्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमें किये दुराचरणके लिये शोक करो। नरकादि गतियोंमें बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दुःख भोगा। वही दुःख आगे भी भोगनेमें आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो। समस्त आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षको उखाड़नेमें समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोंमें कभी प्राप्त नहीं किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ। इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो। हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मोके संचयके मूल हैं और चार प्रकारके बन्धमें निमित्त हैं, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचारमें मूढ़ बुद्धि होनेसे तथा सन्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे सन्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हूँ। इस प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

---

१ ज्ञानावरणोदयात्तदुदीरितार्थानि—अ० मु० ।

जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कमं सदा उत्तो।
झाणेण विणा वंज्झो कालो दु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुरु क्रमं सदोद्युक्तः। ध्यानेन विना वन्ध्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहिं।
सोदुं ण खमो अहिमणपणीय सोदु व सघरम्मि ॥१४३९॥

'संसाराडविणित्थरणमिच्छदो' संसाराटविनिस्तरणमिच्छतोऽनपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्तुं क्षमः। अहिं अनपनीय स्वप्तुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम [1]णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे।
पज्जलिदम्मि व णाणी घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणव्याधयः, शोका भयानि, प्रार्थिता[2]लाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते। 'णाणी सोदुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्तुमभिलषेत्। 'पज्जलिदम्मि घरम्मि व' प्रज्वलिते गृह इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेसु।
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो' को नाम निरुद्वेगः स्वपेद्रागादिषु संसारवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायुधानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥१४४१॥

णिद्दा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमें सदा लगे रहो। ध्यानके विना तुम्हें एक क्षण भी नहीं गँवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमें यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना सोना शक्य नहीं है। उसी प्रकार जो संसार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोंको दूर किये विना सोनेमें समर्थ नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्राथितकी अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगसे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमें कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी प्रकार संसारको बढ़ानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर सो सकता है ॥१४४१॥

---

१ अणुव्विग्गो मूलारा०। २. प्रार्थितलोभो आ०।

'णिद्दा तमस्स सरिसो' [illegible] जयेति ॥१४४२॥

कुण वा णिद्दामोक्खं णिद्दामोक्खस्स भणिदवेलाए ।
जह वा होइ समाधी उववासकिलिंतस्स तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा णिद्दामोक्खं' कुरु वा निद्रामोक्षं । [illegible] यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवतः उपवास[illegible] तथा वा निद्रामोक्षं कुरु ॥१४४३॥ निर्जरायां

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं चाधिकारं [illegible]—

एस उवाओ कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो ।
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवाओ' कर्मणामास्रवद्वारनिरोधे उपायोऽयं [illegible] । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । संवरपूर्विका निर्जरा मुक्त्यै भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

अब्भंतरबाहिरगे तवम्मि सत्तिं सगं अगूहंतो ।
उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो तं ॥१४४५॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिमगूहमानः । सुखे शरीरे चानासक्तिः अनालस्यः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न[1] चालस्यः प्रवर्तते तपसि । तपसः प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखे शरीरे च प्रतिबद्धत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योंका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममें निद्रा त्यागनेका जो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो। अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है। पूर्व संचित कर्मोंका क्षय तपसे होता है। संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके बिना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो। सुखमें और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो। जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता। तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता। इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

१. न चालस्य—आ० । न चालसः—मु०, मूलारा० ।

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिवद्धदाए य ।
जो सत्ती संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥१४४६॥

'सुहसीलदाए' सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा यः शक्तौ सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ।
ण य होइ धम्मसद्धा तिव्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

'तस्स ण भावो' तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? 'सुहदेहपिक्खाए' सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्त्या बुद्धया हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्पा य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ।
सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणियं ॥१४४८॥

'अप्पा य वंचिओ' आत्मा वञ्चितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीयं चानेकभवेषु दुःखावहं ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ।
देहपडिवद्धदाए साधू सपरिग्गहो होइ ॥१४४९॥

विरियंतराय वीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीय च । शरीरासक्त्या साधुः सपरग्रहो भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए हुंति सव्वे वि पुव्वणिदिट्ठा ।
धम्मम्मि [1]णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥१४५०॥

गा०—सुखमें आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमें प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम शुद्ध नहीं है। अतः शक्तिके अनुसार तपमें प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है। तथा सुख और शरीरमें आसक्ति होनेसे उसको धर्ममें तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमें तत्पर नहीं है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है। तथा सुखमें आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बाँधता है जो अनेक भवोंमें दुःखदायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध करता है। तथा शरीरमें आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

---

१. णिप्पिहासस्स–आ० ।

'अप्पोवि तओ' अल्पमपि तपः महाकल्याणं फलति सुसंयमनिष्पन्नं । सुष्ठु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति च विग्रहे संयमः सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि वटबीजं फलति वटमनेकप्ररोहं अल्पमपि पृथुल फलदायितपः इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

सुट्ठु कदाण वि सस्सादीणं विग्घा हवंति अदिबहुगा ।
सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥१४५५॥

'सुट्ठु कदाण वि' सम्यक् कृतानामपि सस्यादीनां अतीव विघ्ना भवन्ति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्नः फलदाने । निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणणमरणादिरोगादुरस्स मुतवो वरोसधं होदि ।
रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पउत्तं वा ॥१४५६॥

'जणणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौषधं भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥१४५६॥

संसारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं ।
सुतवोदाहेण जहा सीयघरं डज्झमाणस्स ॥१४५७॥

'संसारमहाडाहेण' संसारमहादाघेन दह्यमानस्य तपो भवति जलगृहं । यथा दह्यमानस्य सूर्यांशुभिर्धारागृहम् । सांसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ।
मायाव होइ विस्सासणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०-टी०—सम्यक् सयमपूर्वक किया गया थोड़ा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है। गाथामें सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्ठुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार सयम लिया गया है। जैसे छोटा-सा भी वटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण वटवृक्षरूपसे फलता है उसी प्रकार थोड़ा भी तप बहुत फल देता है। यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं। किन्तु सम्यक्रूपसे किये गये तपके फल देनेमें कोई विघ्न नहीं आता। निर्विघ्न फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०-टी०—जैसे रोगसे पीड़ित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध होती है। उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीड़ितकी श्रेष्ठ औषध तप है। तप करनेसे जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है। इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा है ॥१४५६॥

गा०—संसाररूपी महादाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोसे जलते हुए मनुष्यके लिए धाराघर होता है। तप सासारिक दुःखोंको निर्मूल करता है, यह इससे सूचित किया है ॥१४५७॥

'विसयमहापकाउलगड्डाए' विषयो महापंकाकुलगर्त इव दुस्तरत्वात्। तस्मिन् संक्रमो भवति। तदुत्तरणहेतुर्भवति तपः। तपो नौरुल्लघयितुं कषायातिचपलनदीं ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीणं अणेयदुक्खावहाण होइ तवो।
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥

'फलिहो व दुग्गदीणं' दुर्गतीना परिघ इव। कीदृशां दुर्गतीना ? अनेकदु.खावहानां। किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तप. उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खविचासिदाण सरणं गदी य होइ तवो।
होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥

'मणदेहदुक्खवित्तासिदाण' मानसाना शरीराणां दु.खाना ये वित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः। भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि।
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषमदुर्गं इव दुरुत्तरणीयत्वात्। तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूढस्य। 'तवो देसगो होदि' तप उपदेष्टा भवति। संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति। 'होदि तवो पच्छदणं' भवति तप पथ्यदनं 'भवकांतारम्मि' भवाटव्या। 'दिग्घम्मि' दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो।
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेषु रक्षा सुतपः। अभ्युदयानां आकरः सुतपः मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥१४६६॥

है। तप उससे निकलनेमें कारण है। तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दु.खदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलाके समान है। तथा विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है। जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है। तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह संसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है। उस संसाररूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषम दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकालता है। तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—सम्यक् तप भयमें रक्षा करता है, अभ्युदयोंकी . और अविनाशी सुखस्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नसैनी है ॥१४६६॥

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

'तण्णत्थि' तन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्निः कर्मतृणं दहति तृणमिवाग्निः प्रज्वलितः ॥१४६७॥

सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ॥१४६८॥

'सम्मं कदस्स' सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपसः फलं वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वाशतसहस्रं यद्यप्यस्ति ॥१४६८॥

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥१४६९॥

'एवं णादूण' एवं ज्ञात्वा तपो महोपकारि संयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

'जह गहिदवेयणो वि य' यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भृतकः । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तगुत्तं ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसो ।
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समण्णागदमदीओ ॥१४७१॥

'इच्चेव समणधम्मो' इत्येवं श्रमणधर्मं दशविधः सगुणदोषः कथितो मया। 'एत्थ तुममप्पमत्तो होहि' अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भव, समागतस्मृतिक. इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिराख्याता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं।
चित्तप्पसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरंदं ॥१४७२॥

'तो खवगवयणकमलं' अत्र शिक्षानन्तरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं सूरिधर्मरश्मेस्तैर्वचनरश्मिभिः चित्तप्रसादविमलं प्रीतिमकरंदं ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा [1]विंभियच्छिपत्तेहिं।
सोभइ इद्द[2] सूरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

'वयणकमलेहिं' वदनकमलैः यतीनां गणिनोऽभिमुखैः [3]विस्मिताक्षिपत्रैः सा सभा शोभां वहति स्म। सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि।
जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥१४७४॥

'गणिउवएसामयपाणएण' गणिनः उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽसौ क्षपकः सुष्ठु निर्वृतः तृषितः पानकं पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ तं अणुसट्ठिं सोऊण जादसंवेगो ॥
उट्ठित्ता आयरियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार हे क्षपक! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके श्रमण धर्मका कथन किया। उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस क्षरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार आचार्यके अभिमुख हुए यतियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंसे संयुक्त होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और उठकर अंगोंको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

---

१. इह विभि–आ०। सावास्थिदरिथपत्तेहि–मु०। २. सोभदि ससभा सू–मु०। ३ विस्तृताक्षि–मु०।

एवं तुज्झं उवएसामिदमासाइदत्तु को णाम ।
बीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥१४८०॥

'एवं तुज्झं' एवं भवताभ्युपदेशामृतमास्वाद्य को नाम बिभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्योर्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइंदिया महं विग्घं ।
तुम्हं पादोवग्गहगुणेण कादुं ण अरिहंति ॥१४८१॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्न कर्तुं असमर्था भवत्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।
काहिंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

'किं पुण' किं पुनः कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगा वा, इन्द्रियाणां विषयाः, कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।
ण य हं गच्छमि विगदिं तुज्झं पायप्पसाएण ॥१४८३॥

'ठाणा चलिज्ज' स्वस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरुः । भूमिः परावृतमस्तका भविष्यति । नाहं विकृतिं गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

[1]एवं खवओ संथारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।
देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समासमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधनामें विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि अन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरूढ़ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सद् शिक्षा देता है ॥१४८४॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

[illegible]—

अकडुगम[illegible] [illegible] ।
अविरस मदुग्गंधिगं अच्छमणुण्हं अणादिसीदं ॥१४८५॥

'अकडुगं' अकटुकं [illegible] मनुष्णमशीतं ॥१४८५॥

पाणगमसिंभलं परिपूदं खीणस्स तस्स दादव्वं ।
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दादव्वं ॥१४८६॥

'पाणगमसिंभलं' पानकमश्लेष्मकारि परिपूतं क्षीणाय तस्मै दातव्यं । यथाभूतं वा [illegible] पथ्यं तथाभूतं दातव्यम् ॥१४८६॥

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो जइया ।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥१४८७॥

'संथारत्थो' स्रस्तरस्थः क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा [illegible] पानकविकल्पः पूर्वविधिनैव ॥१४८७॥

एवं संथारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ।
अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'एवं संथारगदस्स' एवं स्रस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन [illegible] ध्यानविघ्नकारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामें आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—क्षपकको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो। स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठंडा हो ॥१४८५॥

गा० – कफ पैदा करने वाला न हो। कपड़े से छान लिया गया हो। इस प्रकार कमजोर क्षपकको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमें विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब संस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिसे पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार संस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अंगमें ध्यानमें विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

---

१ मदुब्बिगन्धं –मु०, मूलारा०।

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ।
भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्दमज्झम्मि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्सभरिदा' बहुभिर्गुणसहस्रैः, सम्पूर्णा यतिनौर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयात् रत्नपूर्णा नौरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिदं जदिणावं दट्ठूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं ।
कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिदं जदि णावं' गुणैः पूर्णां यतिनावं भवसमुद्रमध्ये भिद्यमानां दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षां तस्मात्कोऽन्यो भवेद्धर्मनिःक्रान्तः ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं वित्थरेण अक्खादा ।
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्खिज्ज तं खवयं ॥१४९१॥

'वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्तस्य गुणा ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपक ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिंछाजाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए ।
विज्जादेसेण व से पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥१४९२॥

'तो तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्यं वैद्यस्य चोपदेशेन ॥१४९२॥

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघादं ॥१४९३॥

'णादूण विकारं' ज्ञात्वा विकारं तस्या वेदनायाः ततः प्रतिकारं कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातकफपित्तप्रतिघातं ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमें रत्नोंसे भरी नावकी तरह हजारों गुणोंसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयंकर संसारसागरमें डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोंसे भरी नावको संसार-समुद्रमें डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमें जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अतः उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४२॥

गा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योंसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणबुद्धिओ खवओ ।
छट्ठं दोच्चं पढमं व सिया कुटिलिदपदमिच्छंतो ॥१४९८॥

'उब्भासेज्ज' वदेदयोग्यं, संयमगुणश्रेणितः गुणावतरणबुद्धिः 'छट्ठं' रात्रिभोजनं, 'दोच्चं' पानं, दिवसे 'पढमं व' अशनं वा । 'सिया' कदाचित् । 'कुटिलिदपदमिच्छंतो' स्खलनपदं इच्छन् ॥१४९८॥

तह मुज्झंतो खवगो सारेदव्वो य सो तओ गणिणा ।
जह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

'तह मुज्झंतो खवगो' मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ तेन गणिना । कथं ? यथा विशुद्धलेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो ।
किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥१५००॥

'कोऽसि तुमं' कस्त्वं ? किंनामधेयः ? 'कत्थ वससि' क्व वससि ? 'को व संपही कालो' को वेदानीं कालः ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुमं' किं करोषि भवान् ? 'कधं वा अत्थसि' कथं वा तिष्ठसि ? 'किं णामगो वाहं' अहं वा किंनामधेयः ? ॥१५००॥

एवं आउच्छित्ता परिक्खहेदुं गणी तयं खवयं ।
सारइ वच्छलयाए तस्स य कवयं करिस्संति ॥१५०१॥

'एवं आउच्छित्ता' एवमनुरक्तं सारयति गणी तं क्षपकं । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकामः वत्सलतया । यद्यस्ति चेतना कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या संयमगुणकी सीढ़ीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमें पानक लेना चाहे या दिनमें असमयमें भोजन करना चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमें पड़ जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोंका स्मरण कराना चाहिये। जिससे उसके परिणाम विशुद्ध हों और उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह सचेत अवस्थामें है या अचेत अवस्थामें है, वात्सल्य भावसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि यदि यह सचेत है तो उसके संयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स ¹वियलचक्खुस्स ।
सो तेण होइ णिद्धंधसेण खवओ परिच्चत्तो ॥१५०२॥

'जो पुन एवं ण करिज्ज' य पुनरेव न कुर्यात् सारणं । स्खलितचित्तवृत्तेः स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥१५०२॥

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदिं ।
तह य ण लभिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'एवं सारिज्जन्तो' एवं सार्यमाणः कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन असद्वेद्योपशमेन वा स्मृतिं [illegible] लभते । अनुचितं इच्छा मम अकाले भोक्तुं पातुं वा प्रत्याख्यातं कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति [illegible] । लभते स्मृतिं कश्चित्कर्मण्युदीर्णे नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभंतस्स वि कादव्वं पडिकम्ममट्ठियं गणिणा ।
उवदेसो वि तधा से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

सदिमलभंतस्स वि स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्यं । प्रतिकारः, उपदेशोऽपि अनुकूलः [illegible] ॥१५०४॥

वेयणो वि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।
उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्णं ॥१५०५॥

[illegible] कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजितो यत्किञ्चिद्वदेत् आरटेत्, भिन्द्याद्वा [illegible] ॥१५०५॥

[illegible]

ण हु सो कडुवं फरुसं व भणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ।
ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं कादुं ॥१५०६॥

'ण हु सो कडुगं' स एव कुर्वन्क्षपकः न वक्तव्यः कटुकं परुषं वा, न भर्त्सनीयं, न च त्रासं नेतव्यः, न च युक्तः परिभवः कर्तुं तस्य ॥१५०६॥

परुषवचनादिभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी [1]विप्फुरिओ तओ संतो ।
उद्धाणमवक्कमणं कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'फरुसवयणादिगेहिं' परुषवचनादिभिर्मानी विराधितः सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णामेरं भित्तुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ।
सज्झायरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा ॥१५०८॥

'तस्स पदिण्णामेरं' तस्य स्वप्रतिज्ञामर्यादां भेत्तुं वाञ्छतो निर्यापक सूरिः कवचं कुर्यात् परीषहनिवारणक्षमं ॥१५०८॥

णिद्धं मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा ।
तो सीखावेदव्वो सो खवओ पण्णवंतेण ॥१५०९॥

'णिद्धं' स्नेहसहितं, 'मधुरं' श्रोत्रप्रियं, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः क्षपकः प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंकं सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ।
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर-वचन आदिसे भड़ककर वह अभिमानी क्षपक संयमसे च्युत हो सकता है या दुर्ध्यानमें लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोड़ना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषहोंका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोंको प्रिय, हृदयमें सुख देनेवाले तथा हृदयमें प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले ! तुम दीनता और मूढ़ताको त्यागकर चारित्रमें बाधा डालनेवाली छोटी या बड़ी व्याधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलसे जीतो । राग और कोपका

---

1. विप्फुरिनिदो-विराधितः -मूलारा० ।

रोगच्छेदे महोत्साहस्य भवति। [illegible] चारित्रस्य। वीतरागकोपतादि चारित्र। [illegible] आदरवता भवितु वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति। तस्माच्चारित्रविघ्नजयस्त्वया कर्तव्य इति भाव ॥१५१०॥

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुमं।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सव्वे वि य उवसग्गे' सर्वानुपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जय। उपसर्गपरीषहजयस्त्वभीरुता मनसा जय। भीतोऽस्मिति दयया न दुःखानि हरन्ति। [illegible] कारणमसद्वेद्यमुदयागतं अनिवार्यवीर्यं बलं प्रयच्छन्त्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जयः। [illegible] वेदनासु महात्मनो पश्यत मदीयामिमां अतिकष्टामवस्थां। दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारणं। असकृदनुभूता परीषहाः क्षुदादय, उपसर्गाश्च पूर्वं। पूत्कुर्वन्नपि नामी मुञ्चन्ति। [illegible] वराको रटतीति निन्द्यते। न सन्मार्गात्प्रच्यावयितुं इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जयः। अदीनेक्षणमुखरागवत्ता अचलता च कायेन जय। 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निर्जित्यैवं सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरणे मृतिकाले। आराधओ होहिसि' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि। उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

संभर सुविहिय जं ते मज्झम्मि चदुव्विधस्स संघस्स।
वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥१५१२॥

'संभर' स्मृतिं निधेहि। 'सुविहिय' सुचारित्र। किं स्मरामि इति चेत् 'तं' ता प्रतिज्ञां यां कृतवानसि।

त्याग ही चरित्र है। व्याधिको दूर करनेके उपायोंमें आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है। अतः तुम्हें चारित्रके विघ्नोंको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोंको मन वचन कायसे जीतो। उपसर्ग और परीषहोंके जीतनेमें जो दुःख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है। यह डरपोक है अतः दया करके उपसर्ग परीषह उसे दुःख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है। द्रव्यादि सहकारी कारणोंके रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नहीं होता तब वह कष्ट देता ही है। धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है। मैं थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दुःसह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मैं दुःखमें जल रहा हूँ, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोंका उच्चारण न करना। मैंने पूर्वमें अनेक बार भूख आदि परीषहों और उपसर्गोंको सहा है। चिल्लाने पर भी ये छोड़ते नहीं हैं। केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं। ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमें समर्थ नहीं हैं। इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है। आंखोंमें और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना है। इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गोंको सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे। जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नहीं हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध संघके मध्यमें जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

'मज्झम्मि' मध्ये । कस्य ? 'चदुव्विधस्स' चतुर्विधस्य गणस्य । 'बूदा' धृता । 'महापदिण्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहय' अहं 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ।
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' कः पलायते युद्धे भट शूर । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालनं कृत्वा । जनमध्ये । एवं युद्धे शत्रुपराजयं करिष्यामीति उद्घुष्य 'आवडिमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुरेव अरिभीतः । कः पलायनं करोति ॥१५१३॥

दार्ष्टान्तिकं योजयति—

थोलाइदूण पुव्वं माणी संतो परीसहादीहिं ।
आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुव्वं' भुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । 'परीसहादीहि आवडिदमेत्तगो चेव' परीषहादिभिरभिमुखायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणी संतो' को विषण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमंति रणभूमिं ।
अवि य मरिज्ज रणे तं ण य पसरमरीण वड्ढंति ॥१५१५॥

'आवडिदा पडिकूला' अभिमुखायाताः शत्रवः । 'पुरवो चेव ककमति रणभूमि' पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमि । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे म्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढन्ति' नैव प्रसरमरीणां वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सूरा ।
अइतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साधवो' मानिनः शूरा । 'अदितिव्ववेदणाओ' अतीव तीव्रवेदनाः 'सहति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयंति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योंके बीचमें अपनी भुजाओंको ठोककर 'मैं युद्धमें इस प्रकार शत्रुओंको हराऊंगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुसे ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें भुजाओंको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीषह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोंके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओंके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमें पहुँच जाते है। वे युद्धमें मर जायें भले ही किन्तु शत्रुओंका उत्साह नहीं बढ़ने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोंकी प्रतिकूलतामें अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नहीं होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषहोंके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

रोगातङ्के महत्युपस्थिते सति । [illegible] सा [illegible] [illegible] [illegible] चारित्रस्य । वीतरागतांगताढि चारित्रं । [illegible] [illegible] आदरतो [illegible] वेदनायां च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नानामजय्यता [illegible] इति भाव ॥१५१०॥

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुमं ।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सव्वे वि य उवसग्गे' सर्वानुपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जय । उपसर्गपरीषहदुःखाभीरुता मनसा जय । भीतोऽस्मीति दयया न दुःखानि ददति । सत्स्वपि द्रव्यादिसहकारिकारणेषु समुदयागतं अनिवार्यवीर्यं बलं प्रयच्छन्त्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जयः । श्रान्तोऽस्मि वेदनासु महत्सु पश्यत मदीयामिमां अतिकष्टामवस्थां । दग्धोऽस्मि हतोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारणं । अनन्तशोऽनुभूताः परीषहाः क्षुदादय उपसर्गाश्च पूर्वं । पूत्कुर्वन्नपि नामी मुञ्चन्ति । केवलं धृतिहीनोऽयं वराको रोदीति निन्द्यते । न सन्मार्गात्प्रच्यावयितुं इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जयः । अदीनेक्षणमुखरागता अचलता च कायेन जय. । 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निर्जित्य सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरणे मृतिकाले । आराधओ होहिसि' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

संभर सुविहिय जं ते मज्झम्मि चदुव्विधस्स संघस्स ।
वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥१५१२॥

'संभर' स्मृति निधेहि । 'सुविहिव' सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत् 'तं' तां प्रतिज्ञां यां कृतवानसि ।

त्याग ही चरित्र है। व्याधिको दूर करनेके उपायोंमें आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है। अतः तुम्हें चारित्रके विघ्नोंको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोंको मन वचन कायसे जीतो। उपसर्ग और परीषहोंके जीतनेमें जो दुःख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है। यह डरपोक है अतः दया करके उपसर्ग परीषह उसे दुःख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है। द्रव्यादि सहकारी कारणोंके रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नहीं होता तब वह कष्ट देता ही है। धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है। मैं थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दुःसह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मैं दुःखमें जल रहा हूँ, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोंका उच्चारण न करना। मैंने पूर्वमें अनेक बार भूख आदि परीषहों और उपसर्गोंको सहा है। चिल्लाने पर भी ये छोड़ते नहीं हैं। केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं। ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमें समर्थ नहीं हैं। इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है। आंखोंमें और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना है। इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गोंको सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे। जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नहीं हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध संघके मध्यमें जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना करूंगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

गाढप्पहारसंताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं ।
ण मुहं भंजंति सयं मरंति [1]भिउडीमुहा चेव ॥१५२१॥

'गाढप्पहारसंताविदा वि' गाढप्रहारसंतापिता अपि शूरा 'रणे' युद्धे । 'सगं मुहं अरिसमक्खं ण भंजंति' स्वमुखभङ्गं अरीणां पुरतो न कुर्वन्ति । 'मरंति' म्रियन्ते । भिउडीए सह चेव' भ्रुकुट्या सह चैव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ।
कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥१५२२॥

'सुट्ठु वि आवइपत्ता' निरन्तरमापदं प्राप्ता अपि । 'सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति' सत्पुरुषा न कातरतां कुर्वन्ति । 'कत्तो पुण काहिंति' कुतः पुनः करिष्यन्ति । 'दीणत्तं किविणत्तं वावि' दीनतां कृपणतां च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता ।
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव ॥१५२३॥

केई अत्थंति अचेदणा चेव' केचित्तिष्ठन्ते अचेतना इव । 'अग्गिमदिगदा' अग्निं प्रविष्टाः 'समंतदो अग्गिणा वि डज्झंता' समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । 'जलमज्झगदा व णरा' जलमध्यगता नरा [2]इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति ।
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

'तत्थ वि' तत्राप्यग्निमध्ये । 'साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति' साधुकारं स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । 'केई अग्गिमज्झगदा धीरा' केचिदग्निमध्यगता धीराः । 'उक्किट्ठि करंति' उत्कृष्टि उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमें शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारसे पीड़ित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भी टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमें प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमें प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमें भी रहते हुए अपने अंगुलि संचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमें रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

---

१. भिउडीए सह–मु० । २. नरा इव अचेतना इव–आ० मु० ।

[1]धोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं ।
ण य लज्जणयं काउं जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

[2]'धोलाइयस्स' कृतभुजास्फालनस्य । 'माणिणो' मानिनः । 'रणमुहे वरं मरणं' युद्धमुखे मरणं शोभनं । 'ण य वरं' नैव शोभनं । 'लज्जणयं कादु' जावज्जीवं च सुजणमज्झे' सुजनमध्ये यावज्जीवं निन्दाकरणं ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं ।
ण य लज्जणयं कादुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा । 'माणिणो' मानिनः, 'संजदस्स' संयतस्य । 'णिधणगमणं पि होइ वरं' निधनगमनमपि भवति वरं । 'ण य लज्जणगं कादुं' नैव लज्जनीयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । 'दीर्णकिविणत्तं' दीनत्वं कृपणत्वं च न वरं ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं ।
पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो [3]सुजणलंछं ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एकस्यात्मनः । 'जीविदहेदुं' जीवितनिमित्तं । 'को करिज्ज जंपणगं' कः कुर्यादपवादं । पुत्तपउत्तादीणं' पुत्रपौत्रादीनां । 'रणे पलादो' रणात्पलायमानः । सुजणलंछं स्वजनलाञ्छनं ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीविदत्थी तं ।
कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुव्वं सुगणलंछं ॥१५२०॥

'तह' तथा । 'अप्पणो जीविदत्थं' भवतो जीवितार्थं । 'कुलस्स संघस्स य मा कुणसु जणे दूसणं' कुलस्य संघस्य च दूषणं जने मा कार्षीः । 'किविणं कुव्वं' कृपणत्वं कुर्वन् । 'सुगणलंछं' स्वगणलाञ्छनं ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमें सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोंके मध्यम जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

गा०—इसी प्रकार स्वाभिमानी संयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है कातरता-विपत्तियोंमें घबराना, दीनता कृपणता-किसीसे कुछ भी नहीं [illegible] करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाञ्छन लगायेगा ॥१५१९॥

गा०—इसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीषह आदि आनेपर अपनी निर्बलता [illegible] हुए अपने कुल और संघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर [illegible] मत लगाओ ॥१५२०॥

१. [illegible] आ० । २. [illegible] कुरुदरहुमान–मूलारा० ।

किं पुण कुलगणसंघस्स जसमाणिणो लोयपूजिदा साधू ।
माणं पि जहिय काहंति विकम्मं सुजणलज्जणयं ॥१५२९॥

'किं पुण साहू वि कम्मं काहिति' किं पुनः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यन्ति । 'कुलगणसंघस्स जसमाणिणो' 'कुलस्य गणस्य संघस्य च यशः संपादनाहंकारवन्तः । 'लोगपूजिदा साधू' लोके कृतपूजाः । 'माणं विजहिय' मानं त्यक्त्वा 'सुजणलज्जणयं' साधुजनेन विलज्जनीयं कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्पं व आवदिं पत्तो ।
तं पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु संढुत्ति ॥१५३०॥

'जो गच्छिज्ज विसादं' यो गच्छेद्विषादं । 'महल्लं अप्पं व आवइं पत्तो' महतीं अल्पां वा आपदं प्राप्तः । 'तं पुरिसकादरं' पुरुषेषु कातरं । 'धीरपुरिसा संढुत्ति विंति' धीराः सुपुरुषाः षण्ढ इति ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकंपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

'मेरुव्व णिप्पकंपा' मेरुरिव निश्चलाः । 'अक्खोभा' अकम्प्याः । 'सागरोव्व' सागर इव 'धिदिवंतो सप्पुरिसा' धृतिमन्तः संतोषवंतः सत्पुरुषाः । 'महल्लावईए वि' महत्यामापदि ॥१५३१॥

केई विमुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा ।
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥१५३२॥

'केई उत्तमट्ठं साधेंति' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नत्रयं साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? 'विमुत्तसंगा' निष्परिग्रहाः । 'आदारोविदभरा' आत्मारोपितभराः । 'अपडिकम्मा' निष्प्रतीकाराः । 'गिरिपब्भारमभिगदा' गिरिप्राग्भारमभिगताः । कीदृशं ? 'बहुसावदसंकडं' बहुव्यालमृगाकुलं । 'भीमं' भयावहं ॥१५३२॥

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ।
साहिंति उत्तमट्ठं सावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—तथ कुल गण और संघके यश सम्पादनका अहंकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंसे भरे भयंकर पर्वतोंके शिखरोंपर

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए।
तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥१५२५॥

'जदिदा' यदि तावत्। 'तह' तथा। 'अण्णाणी धिदिं करिंति' तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति 'संसारपवड्ढणाए लेस्साए' संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेश्यया। 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्रायां वेदनायां सत्यां। 'सुहसाउलगा' सुखास्वादनलम्पटाः ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करंतेण।
बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

कि पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि 'धिदि' किं पुनर्न कार्या भवति धृतिः यतिना। कीदृशा? संसारसव्वदुक्खक्खय संसारसर्वदुःखक्षयं कुर्वता। 'बहुतिव्वदुक्खरसजाणगेण' बहूनां चतुर्गतिगतानां तीव्राणां दुःखानां रसं जानता ॥१५२६॥

असिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे।
रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥१५२७॥

'असिवे मार्यां। 'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा। 'कंतारे' अटव्यां वा। गाढे भये च। उपर्युपरि निपतितभये वा। 'रोगेहिं व अभिभूदा' व्याधिभिर्वा अभिभूताः। 'ण विजहंति कुलजा माणं' न जहति कुलप्रसूता मानं ॥१५२७॥

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमयं ण य पलंडुमादीयं।
ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंवि लज्जणयं ॥१५२८॥

'ण पियंति सुरं' न पिबन्ति सुरां। 'ण खंति' न च भक्षयन्ति गोमांसं। 'ण य पलंडुमादीयं' न पलाण्डुप्रभृतिकं भक्षयन्ति। 'ण य कुव्वंति विकम्मं' नैव कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं कुर्वन्ति। 'तहेव अण्णंवि लज्जणयं' तथैव नान्यदपि लज्जनीयं कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि संसारको बढ़ानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखकी लालसामें तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमें जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमें जलकर मरनेमें धर्म मानते है।

गा०—तो जो क्षपक साधु संसारके सब दुःखोंका क्षय करना चाहता है और चारों गतियोंके तीव्र दुःखोंका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

गा० भारी रोगमें, दुर्भिक्षमें, भयानक वनमें, अत्यन्त प्रगाढ़ भयमें तथा रोगोंसे ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नहीं छोड़ते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नहीं करते। गोमांस नहीं खाते। लहसुन प्याज आदि नहीं खाते। दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते। इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते ॥१५२८॥

'कच्छुजरखाससोसो' कच्छूज्वरकासशोषाः। 'भत्तच्छंदच्छिकुच्छिदुक्खाणि' तीव्रो जठराग्निः अक्षिदुःखं। कुक्षिदुःखं च। 'अधियासयाणि' अधिसहितेन धृतानि 'सणक्कुमारेण' सनत्कुमारेण। 'वाससदं' वर्षशतं ॥१५३७॥

णावाए णिब्बुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी ।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिब्बुडाए' नावि निमग्नायां च। 'गंगामज्झे' गंगाया मध्ये। 'अमुज्झमाणमदी' अमुह्यमानमतिः। 'आराधणं पवण्णो' आराधनां प्रतिपन्नः सन्। 'कालगओ' कालं गतः। 'एणियापुत्तो' एणिकपुत्रनामधेयो यतिः ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी ।
घोराए [1]विगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वितः। 'भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी' भद्रबाहुरसंक्लिष्टचित्तः। घोराए'विगिंछाए' घोरया क्षुधा बाधितोऽपि। 'पडिवण्णो उत्तमं ठाणं' प्रतिपन्न उत्तमार्थं ॥१५३९॥

[3]कोसंबीललियघडा बूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पाओवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥
चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४१॥

'चंपाए' चम्पानगर्यां। 'मासखवणं करित्तु' मासोपवासं कृत्वा। 'गंगातडम्मि' गंगायास्तटे। 'तण्हाए घोराए' तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि। 'धम्मघोसो' धर्मघोषः। उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४०-१५४१॥

गा०—गंगाके मध्यमें नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूखसे पीड़ित होनेपर भी संक्लेश रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमें सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जलके मध्यमें यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए। उन्होंने मोह रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमें एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गंगाके तटपर तीव्र प्याससे पीड़ित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१–२. विगिच्छाए मु० मूलारा०। ३. एतां टीकाकारो नेच्छति।

'धिदियणियबद्धकच्छा' धृत्या नितरां बद्धकक्षया: । 'अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारित्राः । 'सुदसहाया' श्रुतज्ञानसहाया । 'साधिंति उत्तमट्ठं' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । 'सावदवादंतरगदा वि' श्वापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥१५३३॥

मल्लक्किए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि ।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'मल्लक्किए तिरत्तं खज्जंतो' शृगालेन तिसृषु रात्रिषु भक्ष्यमाणः । 'घोरवेदणट्टो वि' घोरवेदनार्तोऽपि । 'आराधणं पवण्णो ज्झाणेण' शुभध्यानेनाराधना प्रपन्नः । कः ? 'अवंतिसुकुमालो' अवंतिसुकुमार ॥१५३४॥

[1]मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३५॥

मुद्गलगिरौ सुकोसलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षितः सन् प्रतिपन्नः उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए समं कीला-कोडिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३६॥

भूमीए समं भूमौ समं । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेहः । 'अल्लचम्मं व' आर्द्रचर्मवत् । 'भयवं वि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुज्जरखाससोसो भत्तच्छदअच्छिकुच्छिदुक्खाणि ।
अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

[illegible] धैर्यसे [illegible], उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतासे सिंहादिके मुखमें जाकर भी उत्कृष्ट रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

गा०—[illegible] उज्जैनी नगरीमें सुकुमार मुनि तीन रात तक शृगालीके द्वारा खाये जानेपर [illegible] वेदनासे पीड़ित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५३४॥

गा०—[illegible] मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकोसल [illegible] पूर्व जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—[illegible] गीले चमड़ेकी तरह शरीरमें कीलें ठोककर पृथ्वीपर कर देनेपर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्ष तक खाज, ज्वर, खांसी, शुष्कापन, तीव्र उदराग्नि, [illegible] [illegible] दुःखोंको सम्यक् रूपसे सहन किया ॥१५३७॥

[1] [illegible]

हत्थिणपुरगुरुदत्तो संबलिथाली व दोणिमंतम्मि
उज्झंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४७॥

'हत्थिणपुरगुरुदत्तो' हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्तः। 'संबलिथालीव' हरितकांस्य निराधार [?] पूर्णभाजन अर्धपत्रपिहितमिदं मुखं अधोमुखं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेपः सबलीत्युच्यते। तद्वच्छिरसि निधितानि। 'दोणिमंतम्मि' द्रोणीमत्पर्वते दह्यमानः प्रपन्न. उत्तमार्थं ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो।
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४८॥

'गाढप्पहारविद्धो' नितरामायुधविद्ध.। 'पूइगलियाहिं' कृष्णं. स्थूलोत्तमाङ्गै. पिपीलिकाभि.। 'चालणीव कदो' चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगत. ॥१५४८॥

दंडो जउणावंकेण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४९॥

'दंडो' दण्डनामको यतिः। 'जमुणावंकेण' यमुनावक्रसंज्ञितेन। 'तिक्खकंडेहिं' तीक्ष्णैः शरैः 'पूरितांगोऽपि' रत्नत्रयं समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥१५५०॥

'अभिणंदणादिया' अभिनन्दनप्रभृतयः पञ्चशतसंख्याः, कुम्भकारकटे नगरे यन्त्रेण पीड्यमाना अप्याराधनां प्राप्ताः ॥१५५०॥

गा०—हस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर संबलिथालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमें उड़दकी फलिया भरकर उसे आकके पत्तोंसे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारों ओर आगसे घेर देनेपर संबलिथाली कहते हैं। द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी। बृ० क० कोशमें १३९ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चींटियोंके तीव्र डंक प्रहारसे चलनीकी तरह बींध दिया गया था। फिर भी उन्होंने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोंसे छेदकर भर दिया था। फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोशमें मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमांक १४१ है।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमें अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्हूमें पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ।
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

'णिरयतिरिक्खगदीसु य' नरकतिर्यग्गतिषु च । 'माणुसदेवत्तणे य संतेण' मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्तं इह सुखानन्तरं दुःखं 'तं अणुचिंतेहि' तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

'णिरएसु' नरकेषु । 'वेदणाओ' वेदनाः । 'अणोवमाओ' अनुपमाः । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । 'असादबहुलाओ' असद्वेद्यकर्मबहुलाः । कारणबहुलत्वेन कार्यानुवर्तिताख्याता । 'कायणिमित्तं पत्तो' शरीरनिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारणं निर्दिष्टं कायनिमित्तमिति । 'अणंतसो' अनंतवारं । 'त्वं' भवान् 'बहुविधाओ' बहुविधाः ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनायोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

'णिरयम्मि उण्हे 'लोहुण्ड मेरुमत्तं जदि कोइ पक्खिवज्ज' उष्णनरके लोहपिण्डं मेरुसमानं यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । 'सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलिज्ज'[1] लोहपिण्डो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । 'उण्हेण' उष्णेन नरकबिलानां ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, तिर्यञ्चगतिमें और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमें रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमें मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असंयमसे उपार्जित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकोंमें अनन्तबार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमें भोगी है। इस प्रकारकी वेदना जगत्‌में दूसरी नहीं है। उसका मूल कारण यह शरीर है। उसीके निमित्तसे होनेवाले असंयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमें प्रचुरतासे उदयमें आता रहता है। अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथासे उष्ण नरकोंमें उष्णताकी महत्ता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमें फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमें ही नरकबिलोंकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

१–२. लोहपिण्डं आ० । ३. विलाइज्ज –अ० आ० ।

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ।
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

'णिरयतिरिक्खगदीसु य' नरकतिर्यग्गतिषु च । 'माणुसदेवत्तणे य संतेण' मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्तं इह सुखानन्तरं दुःख 'तं अणुचिंतेहि' तद्गतचित्तस्त्वमनुचिन्तय ॥१५५६॥

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

'णिरएसु' नरकेषु । 'वेदणाओ' वेदना । 'अणोवमाओ' अनुपमा । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । 'असादबहुलाओ' असद्वेद्यकर्मबहुला । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता । 'कायणिमित्तं पत्तो' शरीरनिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारणं निर्दिष्टं कायनिमित्तमिति । 'अणंतसो' अनंतवारं । 'त्वं' भवान् 'बहुविधाओ' बहुविधाः ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

'णिरयम्मि उण्हे 'लोहुण्ड मेरुमत्तं जदि कोइ पक्खिवेज्ज' उष्णनरके लोहपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । 'सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलिज्ज'[1] लोहपिण्डो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । 'उण्हेण' उष्णेन नरकबिलानां ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, तिर्यञ्चगतिमें और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमें रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमें मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असयमसे उपार्जित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकोंमें अनन्तबार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमें भोगी हैं। इस प्रकारकी वेदना जगत्में दूसरी नहीं है। उसका मूल कारण यह शरीर है। उसीके निमित्तसे होनेवाले असंयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमें प्रचुरतासे उदयमें आता रहता है। अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथामें उष्ण नरकोंमे उष्णताकी महत्ता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमें फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमें ही नरकबिलोंकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

१–२. लोहपिण्डं आ० । ३. विलाइज्ज —अ० आ० ।

'असिपत्तवणम्मि य जं' असय एव पत्राणि यस्मिन्वने तदसिपत्रवनं। उष्णार्दितानां पूत्कुर्वतां नारकाणां असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविचित्रायुधरूपाणि पत्राणि। 'जं च कयं' यच्च कृतं। 'गिद्धकंकेहिं' गृध्रैः कङ्कैश्च वज्रमयतुण्डैः[1] ते लुञ्चन्त्यसुरन्ति। तीक्ष्णाक्रकचसदृशैः पक्षैः प्रहरन्ति[2] नितान्ततीक्ष्णकर्कशचरणाङ्कुशैर्मारयन्ति ॥१५६२॥

सामसबलेहिं दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि।
पत्तो कयंबवालुयमइगम्ममसायमतितिव्वं ॥१५६३॥

'सामसबलेहिं' श्यामशबलसंज्ञितैरसुरैः। 'दोसं' दोषं दण्डनां। 'वइतरणीए य पाविओ जं सि' वैतरण्यां नद्यां प्रापितो यदसि। तृडभिभूतानां जलं मृगयतां दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनानां शुष्कतालुगलानां वैतरणीनदीमसुरदर्शयन्ति। रङ्गत्तरङ्गाकुलां, अगाधनीलनीरसरितसन्हृदां, विषयसुखसेवेव दुरन्ततृष्णानुबन्धनोद्यतां, संसृतिरिव दुस्तरां, आशेव विशालां, कर्मपुद्गलस्कन्धसंहतिरिव विविधविपद्विधायिनीं, तद्दर्शनाद्दूरादेवोपजातोत्कण्ठाः लब्धजीविताशसमवृत्ताः स्म इति मन्यमाना द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते। तदवगाहनानन्तरमेव कृताञ्जलयः पिबन्ति ताम्रद्रवकल्पितं तदम्भः। परुषवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धाः स्मेति करुणं रसतां शिरांसि परुषतमसमीरणप्रेरणोत्थिततरङ्गासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च। तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूटविषसमानेन जलेन, व्रणान्तरप्रवेशिना दह्यमाना झटिति घटितकरचरणास्तटमेव स्कन्धः समारोहन्ति। तेषां च

भोगा। जिस वनमें तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं। गर्मीसे पीड़ित नारकी असिपत्र वनमें जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है। तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वज्रमय चोंचोंसे उन्हें नोंचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पंखोंसे प्रहार करते हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अंकुशोंसे मारते हैं। इन सबका जो दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०-टी०—श्याम शबल नामक असुर कुमारोंके द्वारा वैतरणी नदीमें तुमने जो दण्ड भोगा। जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालु सूख जाता है तो उन्हें वैतरणी नदी दिखलाई जाती है। वह रंगीन तरंगोंसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढ़ाने वाली होती है, संसारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोंके स्कन्धोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है। उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है। अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौड़कर नदीमें प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही हाथोंकी अंजलि बनाकर पिघले हुए तामेके समान उसके जलको पीते हैं। वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है। 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीत्कार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोंको अत्यन्त कठोर वायुसे प्रेरित लहरें, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं। तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके घावोंमें जाता है। उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं। उनके कटे हाथ

---

1. तुण्डैः तरललोचनैं —आ० मु०। ते हि वज्रमयैस्तुण्डैर्नेत्राणि तुदन्ति। 2. रन्ति नित्य नखर —आ० मु०।

तह चेव य तद्देहो पज्जलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥१५५९॥

'तह चेव' तथैव । 'तद्देहो' मेरुमात्रदेहः । 'लोहुंडो' लोहपिण्डः । 'पज्जलिदो' प्रज्वलितः । 'सीदणिरयम्मि' शीतनरके । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीदेण सडिज्ज शीतेन विशीर्यते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिव्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ।
चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिव्वा' भवति च नरके तीव्रा वेदना । 'देहे' शरीरे । 'सभावदो चेव' स्वभावत एव । 'चुण्णीकदस्सेव' चूर्णीकृतस्येव । 'खारेण सित्तस्स' क्षारेण सिक्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूर्छितस्य । यादृशी वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ।
णेरइहिं य तत्तो पडिओ जं पाविओ दुक्खं ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकबिलसमूहे नरकस्य प्राकारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगतं इति । 'पत्तो जं दुक्खं' यद्दुःखं प्राप्तः । 'लोहकंटएहिं' निशितलोहकण्टकैः तुद्यमानस्त्वं ॥१५६१॥

जं हडमामलीए दुक्खं पत्तोसि जं च सूलम्मि ।
असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्धकंकेहि ॥१५६२॥

'जं कूडसामलीए दुक्खं' यद्दुःखं प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभिः । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च कण्टकैर्विदार्यमाणः । 'जं च सूलम्मि' यच्च दुःखमवाप्तोऽसि शूलप्रोतः ।

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुंढिहत्थेहिं ।
जं चि मसंडाखंडिं कओ तुमं जणसमूहेण ॥१५६६॥

'कुट्टाकुट्टिं बहुसो' मन्युप्रदीप्तमूर्तिभिः मुद्गरमुसलहस्तैः, यच्च जनसमूहेन भवान् मसूरखण्डीकृत-स्तदन्तःकरणे कुरु ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नतिः सुखशीलता ।
लज्जा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥१॥
इत्येवमादयः सुगुणाः प्रख्याता ये शरीरिणां ।
तेषु ते दुर्लभा नित्यं कान्तारेष्विव मानुषाः ॥२॥
शत्रुमित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ।
शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥३॥
कम्पने. कणपैश्चक्रैर्नाराचैः क्रकचैर्नखैः ।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः भल्लैः पाषाणनिर्मितैः ॥४॥
मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टैः शङ्कुभिः शक्तिभिः शरैः ।
असिभिः छुरिकाभिश्च कुन्तैर्दण्डैः सतोमरैः ॥५॥
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्भूतलस्थितैः ।
भूस्वभावात्स्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥६॥
नारकास्तत्र तेऽन्योन्यं रोषवेगेन पूरिताः ।
पूर्ववैराण्यनुस्मृत्य विभङ्गज्ञानसंभवात् ॥७॥
घ्नन्ति छिन्दन्ति भिन्दन्ति दारयन्ति च तुदन्ति च ।
विध्यन्ति पाटयन्ति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥
श्वशृगालवृकव्याघ्रगृध्ररूपाणि चापरे ।
विकृत्य विरसं पापा बाधन्तेऽत्र परस्परं ॥९॥

गा०-टी०—अनेक बार हाथमें मुद्गर लेकर तुम्हे कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हे चूर्ण कर डाला। उसका मनमें विचार करो।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान, प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोंमें होते हैं वे गुण नरकमें वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घोर वनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है। अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके लोग होते हैं। किन्तु नारको सब सबके शत्रु ही होते हैं। नरकमें नारकी अपने विभंगज्ञानसे पूर्व जन्मके वैरोंको स्मरण करके और क्रोधमें भरकर चक्र, बाण, करोंत, नख, गदा, मूसल, शूल, भाला, पाषाणसे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकड़ी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी, भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधसे परस्परमें मारते हैं, छेदते भेदते हैं, मारते हैं कोंचते हैं, प्रहार करते हैं, बींधते हैं। अन्य नारकी कुत्ता, गियार, भेड़िया, व्याघ्र, गृद्ध

धीरासु [illegible] महती [illegible] पतिता [illegible] निवन्ति। [illegible] विघ्नतीति [illegible]। [illegible] प्रवेशा, [illegible] वज्रकुरु ॥१५६३॥

जं णीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउलं तुमे पत्तं ।
जं पाइओसि खारं कडुयं तत्तं कलगलं च ॥१५६४॥

'जं पत्तं तं चिंतेहि' यत्प्राप्तं दुःखं तच्चिंतय। [illegible] 'णीलमंडवे' [illegible] मण्डपे। 'तत्तलोहपडिमाउले' तप्तलोहप्रतिमाकुले। [illegible] तन्मर्त्यान् निषेहि। 'जं पाइओसि खारं' यत्पायितोऽसि क्षारं। 'कडुयं' कटुकं। 'तत्तं' तप्तं ॥१५६४॥

जं खाविओसि अयसो लोहंगारे य पज्जलंते तं ।
कंडुसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'जं खाविओसि' यत्खादितोऽसि। 'अयसो' [illegible]। 'लोहंगारे य पज्जलंते' तं लोहाङ्गारान्प्रज्वलतः त्वं। 'कंडसु जं सि रद्धो' कन्दुकासु [illegible] पावः ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते हैं। उनकी गर्दनोंमें भारी शिलाएँ वज्रमयी साकलसे बांध देते हैं जिनको खोलना अति कठिन होता है और उन्हें पुनः उसी वैतरणीमें डाल देते हैं। उसमें गिराये जानेपर वे डूबते उतराते हैं। असुर कुमारोंकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोंके प्रहारसे उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं। पुन वे तट पर जाते हैं और उन्हें पुनः निश्चल बांध देते हैं। तब उन निश्चल स्थित नारकियोंको लक्ष करके लाखों तीक्ष्ण बाणोंसे बींध देते हैं। पुनः कदम्बके फूलोंके आकार वाली बालूमें, जिसमें बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकड़ीके अंगारोंके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमें बल-पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दुःख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहमें निर्मित मण्डपमें तपाये हुए लोहेमें बनी प्रतिमारूपी युवतियोंसे बल-पूर्वक आलिंगन कराये जानेपर तुमने जो दुःख पाया उसका विचार करो। तथा खारा कडुआ तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दुःख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, सज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढ़ा तैयार होता है उसे कलकल कहते हैं।

गा०—बलपूर्वक यंत्रके द्वारा तुम्हारा मुंह फाड़कर जो तुम्हें जलते हुए लोहेके अंगार खिलाये गये और भट्टीमें मांडकी तरह पकाया गया तथा कड़ाहीमें तला गया ॥१५६५॥

१. बानुगच्छत तल्लत भय–अ०। बान्धतः नक्रभय–ज०। २. क्षारावलिरावालिकापि–ज०। गाः तेरा ता. शिलाः पुनर्नि–मूलारा०। ३. तच्चिंतय–मु०।

जं भज्जिदोसि भज्जिदगंपि व जं गालिओसि रसयं व ।
जं कप्पिओसि वल्लूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

'जं भज्जिदोसि' यद्भृष्टोऽसि 'भज्जिदगंपि' भज्जितगनापर्वग्राकवत् । 'जं गालिओसि रसगोव्व' यद्गालितोऽसि रसवत् । 'जं कप्पिदोसि' यत्कृत्तः । 'जं छिन्नो सि' यत् छिन्नः । 'वल्लूरयं पि व' वल्लूरवत् । 'चुण्णव' चूर्णवत् 'चुण्णकदो' चूर्णीकृतः ॥१५६९॥

चक्केहिं करकचेहिं य जं सि णिकत्तो विकत्तिओ जं च ।
परसूहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसुंढीहिं ॥१५७०॥

'चक्केहि करकचेहिं' चक्रैः क्रकचैश्च । 'जं सि णिकत्तो' यदसि निकृत्तः । 'विकत्तिदो' विविध कृत्तः । 'परसूहि फालिदो' परशुभिः पाटितः । 'ताडिदो' ताडितः । 'जं' यत् त्वं 'मुसुंढीहिं' मुसुंढीभिः ॥१५७०॥

पासेहिं जं च गाढं बद्धो भिण्णो य जं सि दुघणेहिं ।
जं खारकद्दमे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

'पासेहिं' पाशैः । 'जं' यत् । 'गाढं बद्धो' दृढं बद्धः । 'भिण्णो य' भिन्नश्च । 'जं सि' यदसि । 'दुघणेहिं' घनैः । 'जं' यत् । 'खारकद्दमे' क्षारकर्दमे । 'खुप्पिदोसि' निमग्नोऽसि । 'ओमच्छिओ' अधोमस्तकः । 'अवसो' परवशः ॥१५७१॥

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मलिदोसि ।
जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिक्खेसु वेएण ॥१५७२॥

यद्भग्नः, पातितः, मर्दितः, लोठितश्च तीक्ष्णेषु शृंगाटकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णंगोवंगो खारं सिंचित्तु वीजिदो जं सि ।
सत्तीहिं वि[1]मुक्कीहिं य अदयाए खुंचिओ जं सि ॥१५७३॥

'विच्छिण्णंगोवंगो' विच्छिन्नांगोपांगः । 'खारं सिंचित्तु' क्षारं सिक्त्वा । 'वीजिदो जं सि' यद्वीजितः ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भूंजे गये हो। गुड़के रसकी तरह छाने गये हो। मासके टुकड़ोंकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो। आरेके द्वारा चीरे गये हो। परसुके द्वारा फाड़े गये हो। और मुसुंढी अस्त्र विशेषसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पाशके द्वारा मजबूतीसे बांधे गये हो। घनोंके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो। पराधीन होकर खारी कीचड़में नीचेको मस्तक करके गाड़े गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो विदारे गये हो। मोड़े गये हो, फाड़े गये हो, पैरोंसे मले गये हो, तथा वेगसे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाड़ोंपर घसीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०— अंग उपांगके विच्छिन्न होनेपर खारे जल आदिसे सींचे गये। फिर पखासे

---

1. मुत्तिक्खीहिं आ० ।

अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हन्तुं तमन्यः कृपणोऽनुयाति ।
तं कश्चिदन्यः सहसा निहंता हो [1]धिक्ततो भीमतरं किमन्यत् ॥१९॥
अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहृत्य जिजीविषन्तः ।
स्वास्था न येऽन्योन्यभयात्स्वपन्ति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् ॥२०॥
वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टाः मृगीसहाया रतिमाप्नुवन्ति ।
व्याधादिभिर्भयमाप्नुवन्ति निरेनसः कारणमत्र कर्म ॥२१॥
वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृग्यो मृगैश्चारममनोऽनुकूलैः ।
दिशस्तु दीनाक्षिभिरीक्ष्यमाणाः सुदारुणं मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
स्वभावपापाः कुकवीरितानिः प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभिः पुनश्च ।
अबिभ्यतो दुर्गतितो यथेष्टं घ्नन्तोऽप्यवतरश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥
वने मृगेभ्यः पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तथाविधेभ्यः ।
ते बिभ्यते न क्वचिदात्मसन्तो यदृच्छया बिभ्रति जीवितानि ॥२४॥
गजाङ्कुशादिप्रहृतप्रपंचाश्च कशाभिघातैश्च हया हताशाः ।
गावश्च तोत्रादिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्मामरणादकामाः ॥२५॥
[2]मत्यायुतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।
तादृग्विधाना बहवो हि कोटयः कथं प्रकुर्वन्त्य[3]मितेतरस्य ॥२६॥
दंदह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः ।
मृगाः खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो यतान्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उसके पीछे लग जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोंको देखनेसे जिनकी नींद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिरणी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हें भय रहता है। इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हें अपने बच्चोंसे वियोगका दुःख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगोंकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयंकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी हैं, और कुकवियोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंसे उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं। वनमें मांसाहारी पशुओंसे, ग्रामोंमें मांसाहारी मनुष्योंसे डरते हैं। वे कहीं भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अंकुश आदिके प्रहारोंसे, घोड़े कोड़े आदिकी मारसे और बैल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुतसी कोटियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जंगलकी आगके वेगसे जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहसे बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

१. हो धिक्क लोभान्वितरा किमन्यत्' –आ० । २. मर्त्यायुनामामल–आ० । ३. न्त्यमिते नारस्य –आ० ज० ।

इच्चेवमादिदुक्खं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए।
जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहि तं सव्वं ॥१५८२॥

'इच्चेवमादिदुक्खं' इत्येवमादिदुःखं। 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं। 'तिरिक्खजोणीए' तिर्यग्योनौ। 'जं' यत्। 'पत्तोऽसि' प्राप्तोऽसि। 'अदीदकाले' अतीतकाले। 'चिंतेहि तं सव्वं' तत्सर्वं चिन्तय। तिरियगदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा।
दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८३॥

'देवत्तमाणुसत्ते' देवत्वमानुषत्वयोः। 'जादेण' जातेन। 'सकयकम्मवसा' स्वकृतकर्मवशात्। 'दुक्खाणि किलेसा वि य' दुःखानि क्लेशाश्च। 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं समनुभूताः ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च।
[1]जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालाभे ॥१५८४॥

'पियविप्पओगदुक्खं' प्रियविप्रयोगजातं दुःखं। 'अप्पियसंवासजाददुक्खं च' अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःखं। येषां नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येषां दर्शनाद्दृशौ धूमायेते। 'जं वेमणस्सदुक्खं' यद्वैमनस्यदुःखं 'पच्छिदालाभे जं दुःखं' यद्दुःखं प्रार्थितालाभे ॥१५८४॥

परभिच्चदाए जं ते असब्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं।
णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥१५८५॥

'परभिच्चदाए' परभृत्यतायां सत्यां 'ते' तव 'जं' यज्जातं। 'असब्भवयणेहिं' अशिष्टवचनैः। 'कडुगफरुसेहिं' कटुकैः परुषैश्च। 'णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं' निर्भर्त्सनावमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तरोसचिंताशोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यञ्चयोनिमें तुमने अतीतकालमें अनन्तवार जो इस प्रकारके दुःख भोगे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमें जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

गा०-टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोंके साथमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी सिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं। उनके साथमें रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोंका दुःख, धिक्कार, तिरस्कार, अपमान और डांटनेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

---

१. जं ते माणसदुक्खं —मूलारा०।

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं[1] दमणं ।
कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लंछणं चेव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडनत्रासनबन्धनलाञ्छनवाहनविहेडनकर्णछेदननासिकावेधनबीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणडहणं णिपीलणं गालणं छुहातण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्बाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्णं च ॥१५७८॥

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुद्दिओ पडिओ ।
बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडयडंतो अणाहो तं ॥१५७९॥

'जं अत्ताणो' यदत्राणो । 'णिप्पडियम्मो' निष्प्रतीकारः । 'बहुवेदणद्दिओ' बहुवेदनार्दितः । 'पडिओ' पतितः । 'बहुगेहिं मदो दिवसेहिं' बहुभिर्मृतो दिवसैः । 'चडचडितो' स्फुरद्देहः । 'अणाहो' अनाथः । 'तं' त्वं ॥१५७९॥

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सव्वत्तो ।
तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ १५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकाराः । 'बाधाओ' बाधाश्च । 'तया निच्चं भयं च सव्वत्तो' नित्यं भयं च सर्वतः । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ।
जम्मणमरणमणंतं[2] अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८१॥

'सुविहिय' सुचारित्र । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणतकायं तुमे अदिगदेण' अनंतकायं त्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणमणत' जन्ममरणं चानन्तं । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं क्षिप्तः । 'समणुभूद' सम्यगनुभूतं ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्सी आदिसे बांधना, बोझा लादकर देशान्तरमें ले जाना, गर्म लोहेसे दागना, पीड़ा देना, दमन करना, अण्डकोषोंको दबा देना। अगोंको छेदना, भेदना, जलाना, दबाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासकी बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दुःख तिर्यञ्च गतिमें तुमने सहे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नहीं, कोई प्रतीकार नहीं, बहुत कष्टसे पीड़ित होकर गिरे और अनाथ दशामें तड़फड़ाते हुए तुम बहुत दिनोंमें मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिमें नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, सदा सब ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, पैरसे मारना आदि कष्ट है ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! अतीतकालमें तुमने अनन्तकायमें जन्म लेकर अनन्त बार अनन्त जन्म मरणोंको भोगा ॥१५८१॥

---

१. च मक्ष अ० । २ णेव मक्षण चेव—अ० । ३. णारंकं अण—अ०, आ० ।

अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ।
सीदुण्हरोगदंसमसएहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

'अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं' अग्नेर्विषस्य, शत्रुणा, सर्पादिव्यालमृगाणां, शस्त्रप्रहारस्य च घातैः । 'सीदुण्हरोगदंसमसएहिं' शीतोष्णेन, दंशमशकैः, 'तण्हाछुहादीहिं' तृट्क्षुधादिभिः ॥१५९१॥

जं दुक्खं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ।
माणुसभवे वि तं सव्वमेव चिंतेहि तं धीर ! ॥१५९२॥

'जं दुक्खं संपत्तो' यद्दुःखं सम्प्राप्तः । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं । 'मणे सरीरे य' मनसि शरीरे च । मानसं शारीरं च दुःखं प्राप्तः । 'माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि । 'तं सव्वमेव चिंतेहि' तत्सर्वमेव चिन्तय । 'तं धीर' त्वं धीर ! ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणसं तिव्वं ।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥१५९३॥

'सारीरादो दुक्खादु' शारीराद्दुःखात् । 'होदि' भवति । 'देवेसु' देवेषु । 'माणसं तिव्वं' मानसं तीव्रं दुःखं । 'दुस्सहं' सोढुमशक्यं । 'अवसस्स' अवशस्य । 'परेण' अन्येन 'अभिजुज्जमाणस्स' अभियुज्यमानस्य वाहनतां नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

'देवो माणी संतो' देवो मानी सन् । 'पासिय देवे' देवान् दृष्ट्वा । 'महड्ढिए' महर्द्धिकान् । 'अण्णे' अन्यान् । 'जं दुक्खं संपत्तो घोरं' यद्घोरं दुःखं प्राप्तः । 'भग्गेण माणेण' भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ।
पजहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥१५९५॥

गा०—आग, विष, शत्रु, सर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डांस मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवमें जो शारीरिक और मानसिक दुःख पाया है, हे धीर ! उस सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

गा०—जब देवगतिमें अभियोग्य जातिका देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उसे शारीरिक दुःखसे तीव्र मानसिक दुःख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

गा०—अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्द्धिक देवोंको देखकर मानका भंग होनेसे जो घोर दुःख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

गा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते समय जो दुःख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'दोणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपज्जलिदमणो वं' दीनतारोषचिन्ताशोकामर्षाग्निभिः प्रज्वलित मनाः 'पत्तो घोरं दुक्खं' प्राप्त घोर दुःख । 'माणुसजोणीए संतेण' मनुष्ययोनौ सता भवता ॥१५८६॥

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोसणसंकिलेसा य ।
धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणणासं ॥१५८७॥

दंडणमुंडण—दण्डनमुण्डनताडनधर्षणपरिमोषणसंक्लेशाः धनापहरणदारधर्षणानि गृहदाहजलादिविधननाशात् ॥१५८७॥

दंडकसालट्ठिसदाणि डंगुराकटमद्दणं घोरं ।
कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

'दण्डकसालट्ठिसदाणि' दण्डकशायष्टिशतैस्ताडनानि दण्डादिभिर्मर्दनं डंगुराभिः प्रहारा । 'कंटमद्दणं' कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुम्भीपाकः । 'मच्छयपलीवणं' मस्तके अग्निप्रज्वलनं । 'भत्तवुच्छेदो' आहारनिरोधः ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअंदूवरत्तरज्जूहिं ।
बंधणमाकोडणयं ओलंबणणिहणणं चेव ॥१५८९॥

'दमणं च हत्थिपादस्स' हस्तिपादेनोन्मर्दनं । 'णिगलअंदूवरत्तरज्जूहिं' निगलेन, अन्दुकाभिः, वरत्राभिः रज्जूभिश्च बन्धनं । 'आकोडणयं' हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बन्धनं । 'ओलंबण' ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखायां लम्बनं । 'णिहणण' चेव गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥१५८९॥

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव ।
उप्पाडणं च अच्छीणं तहा जिब्भायणीहरणं ॥१५९०॥

'कण्णोट्ठसीसणासाछेदण' कर्णयोरोष्ठयोः, शिरसो, नासिकायाश्च छेदः । 'दंताण भंजण चेव' दन्तानां भञ्जनं । 'उप्पाडणं च अच्छीणं' अक्ष्णोरुत्पाटनं, तथा 'जिब्भाए णोहरणं' जिह्वानिर्हरणं ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगसे मनके संतप्त होनेपर तुमने मनुष्ययोनिमें रहते हुए घोर दुःख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोंको दोष लगाना, घरमें आग लगाना, बाढ वगैरहसे संपत्तिका नष्ट होना, डण्डे कोड़े लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्ठीका प्रहार होना, कांटोंके ऊपर लिटाकर घोर मर्दन करना, कड़ाहीमें डालकर पकाना, मस्तकपर आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दुःख तुमने मनुष्यगतिमें सहे हैं ॥१५८७-८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, सांकल, चमड़ेकी रस्सी या साधारण रस्सीसे बांधा जाना, दोनों हाथ पीछे करके बांधना, गर्दनमें रस्सी डालकर वृक्षसे लटकाना, गड्ढेमें डालकर उसे पूर देना। कान, ओष्ठ और नाक काटना, दांत तोड़ना, आंखें निकाल लेना, जीभ उखाड़ लेना, इत्यादि दुःख तुमने भोगे हैं ॥१५८९-९०॥

परवशेन । 'धम्मोत्ति' धर्म इति । 'इमा' इयं वेदना । 'सवसेण' स्ववशेन सता । 'सोढुं ण तीरेज्ज' सोढुं न शक्यते ?। कथं वेदना धर्मः ? उत्तमक्षमामार्जवमार्दवादिभिः दशप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहनं धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं सबन्धोऽत्र ॥१५९९॥

'तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥
आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुधावि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥
जदि तारिसया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कधं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥
सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य [2]पुणोवगहिएण ।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥१६०३॥

'सुदपाणएण' त्रिविधधर्मकथाश्रुतिपानेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुशासनभोजनेन । 'उवगहिदेण' उपगृहीतेन । 'ज्झाणोसधेण' शुभध्यानौषधेन च । 'तिव्वा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदुं' शक्यते सोढुं ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ।
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निःप्रतिकारः सप्रतिकारो वा । 'मुच्चदि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीवः । 'कम्मे उदिण्णम्मि' कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अतः वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक ! ससारमें तुम्हें ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त वार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोंका जल भी समर्थ नहीं है ॥१६००॥

गा०—संसारमें तुम्हें ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नहीं है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर वैसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यों नहीं सहते ॥१६०२॥

गा०—तीन प्रकारकी धर्मकथाको कानोंके द्वारा पीकर, तथा गुरुकी शिक्षारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधको ग्रहण करके तीव्र भी वेदनाको सहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीकार करो या न करो, जीव वेदनासे छुटकारा नहीं पाता ॥१६०४॥

---

१. एतद् गाथात्रयं टीकाकारो नेच्छति । २. पुणो उवक्कमिए,—अ० ।

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं।
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणि वि ॥१६०५॥

'पुरिसस्स पावकम्मोदयम्मि' पुरुषस्य पापकर्मोदये 'न करेंति' न कुर्वन्ति। 'वेदणोवसमं' वेदनोपशमं। 'सुट्ठु पउत्ताणि वि' सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि। 'ओसधाणि वि' औषधानि 'अदिवीरियाणि' अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंबीणं अदयाए असंजमं करंताणं।
धण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥१६०६॥

'रायादिकुडुंबीणं' राजादीनां कुटुम्बीनां अनेक द्रव्यसम्पत्परिचारकसम्पत्प्रचुराणां। 'अदयाए असंजमं करेंताणं' दयामन्तरेणासंयमं कुर्वतां। 'धण्णंतरी वि कादुं' धन्वन्तरिरपि कर्तुं असमर्थः। 'वेदणोवसमं' वेदनाया उपशमं। वैद्यसम्पत्ता धन्वन्तरेर्ग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं।
फासुगदव्वेहिं करेंति साहुणो वेदणोवसमं ॥१६०७॥

'किं पुणं' किं पुनः। 'जीवणिकाए' जीवनिकायान्। 'दयंतगा' दयमानाः। 'जादणेण लद्धेहिं' याच्ञया लब्धैः। 'फासुगदव्वेहिं' प्रासुकद्रव्यैः। 'करेज्ज' कुर्यात्। 'साहुणो वेदणोवसमं' साधोर्वेदनोपशमं परिचारकसम्पदभावो दर्श्यते 'जीवणिकाए दयंतगा' इत्यनेन। यथा व्याधेरुपशमो भवति तथा कुर्वन्ति परिचारकाः। अमी पुनर्नैव षड्जीवनिकायबाधापरिहारोद्यताः स्वसंयमविनाशभीरवो। 'जायणेण लद्धेहिं' इत्यनेन द्रव्यसंपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।
ण य वेदणामित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नहीं करतीं ॥१६०५॥

गा०-टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास-दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असंयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है। धन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी सम्पदाको सूचित किया है। अर्थात् धन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०-टी०—सब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योंसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते हैं? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो है नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने संयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं। साथ 'याचनासे प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'मोक्खाभिलासिणो' निरवशेषकर्मापायाभिलाषिण: । ''संजदस्स' प्राणसंयमवत: । 'णिधणगमणं पि होदि वरं' मरणमपि वरं । 'ण य' नैव वरं युक्तं । 'वेदणाणिमित्तं' वेदनोपशमार्थं । 'अप्पासुगसेवणं कादु'' अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥१६०८॥

णिधणगमणं एयभवे णासो पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥१६०९॥

'णिधणगमणे एयभवे' निधनगमनमेकभवे । 'णासो' नाश: । 'ण पुणो' न पुनर्नाश: । 'पुरिल्लजम्मेसु' भाविषु जन्मसु । 'असंजमो पुण' असंयम: पुन: । 'भवसएसु' जन्मशतेषु । 'बहुएसु' बहुषु । 'णासं कुणइ' नाशं करोति । वेदना हि न संयतमनुयाति रत्नत्रयभावनोद्यत । सा हि असातं मन्दं करोति । असंयम: पुन असद्वेद्यं प्रकृष्टानुभवं करोति । उक्तं च—'दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति' [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेंति णिव्वुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे ।
पुरिसस्स पावकम्मे अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'णं करेंति णिव्वुइ'' न कुर्वन्ति निर्वृतिं । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'सइंदिया देवा सव्वे इच्छया वि' सेन्द्रकाः सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि । 'पावकम्मे' पापकर्मणि । 'अणुक्कमगे' अनुक्रमके । 'उदिण्णम्मि' उदयमुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो ।
हत्थीहिं अतीरंतं भंतुं भंजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥

'किह पुण' कथं पुन: । 'अण्णो काहिदि पुरिसो' अन्य: करिष्यति पुरुष: । 'उदिण्णकम्मस्स' उदया-

---

गा०—समस्त कर्मबन्धनके विनाशरूप मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है। किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्रासुक अयोग्य द्रव्यका सेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

गा०-टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोका नाश नहीं है किन्तु असयम तो सैकड़ों जन्मोंको नष्ट कर देता है। जो संयमी रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीछा नहीं करती। क्योंकि रत्नत्रयकी भावना असाताके उदयको मन्द करती है। और असंयम असातावेदनीयके अनुभागको बढ़ाता है। कहा भी है दु ख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वध और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वयं करनेसे, दूसरोंमें करनेसे या दोनोंमें करनेसे असातावेदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी सुखी नहीं कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते है? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोड़नेमें असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश तोड़ सकता है ॥१६११॥

---

१. अनुक्रमेण —आ० । अणवक्कमगे निष्प्रतीकारे —मूलारा० ।

गा०-टी०—सब जीवमात्रपर दया करनेवा

वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते है ? अर्थात

व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उ

लो है नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको

तथा अपने सयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं

धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ।।१६०७।।

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोवि जगे ।
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं ॥१६१६॥

'कम्माइं' कर्माणि बलवति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कस्माद्यस्मात्सर्वाणि बंधुविद्याद्रव्यशरीरपरिवारबलानि कर्म मर्द्दयति हस्तीव नलिनवनं ॥१६१६॥

इच्चेवं कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु णाऊण ।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥१६१७॥

'इच्चेवं कम्मुदओ' इतिशब्द. प्रकारपरिसमाप्ति सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शे । 'कम्मुदओ' कर्मोदयः । 'अवारणिज्जोत्ति' अनिवार्य इति । 'सुट्ठु णाऊण' सम्यग्ज्ञात्वा । 'मा दुक्खायसु मणसा' मा कार्षीर्दुःखं मनसा । 'कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि' कर्मणि स्वके उदीर्णे ॥१६१७॥

पडिकूविदे विसण्णे रडिदे दुक्खाइदे किलिट्ठे वा ।
ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

'पडिकूविदे' परिदेवने कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि कश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ।
अट्टं सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥१६१९॥

'अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ' अन्योप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संक्लेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्यं फलं अस्ति । संक्लेशेन न किंचित् अपि मुमुक्षोः फलं अपि तु संक्लेशपरिणामो ह्यार्तं ध्यानममनोज्ञविप्रयोगाख्यं वन्ध तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखभीरुं भवंतं त्वदीयः संक्लेशो दुस्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥१६१९॥

गा०—कर्म बडे बलवान हैं। जगत्‌में कर्मसे बलवान कोई नहीं है। जैसे हाथी कमलोंके वनको रौंद डालता है। वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको नष्ट कर देता है। कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोका नहीं जा सकता इस बातको अच्छी तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मत करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दुःख और संक्लेश करनेपर वेदना शान्त नहीं होती और उसमें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा० टी०—शोक आदि संक्लेश करनेसे क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नहीं है। बुद्धिमान पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिससे कोई लाभ होता है। संक्लेशसे मुमुक्षुका जरा भी लाभ नहीं है। बल्कि इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान संक्लेश परिणामरूप होनेसे तिर्यञ्चायुके बन्धका कारण है अतः थोडेसे दुःखसे डरनेवाले आपको तुम्हारा संक्लेश ऐसी तिर्यञ्चगतिरूपी भँवरमें डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

'अरहंत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसक्खिस्स' । अर्हतः, सिद्धान्, केवलिनः, तथा देव... मघ साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य । 'पच्चक्खाणस्स भंजणादो' प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । 'वरं' शोभनं प्राणपरित्याग ॥१६२८॥

कथ मरणादशोभनता 'प्रत्याख्यानभंगस्येत्याशंकायामाचष्टे प्रत्युत्तरं प्रत्याख्यानभंगे निवेदयितुम्—

आसादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण ।
राया विव सक्खिकदो विसंवदंतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

'आसाविदा' परिभूताः । 'तवो' ततः पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेन प्रत्याख्यानभं... कारिणा । ते अर्हदादय । 'अप्पमाणकरणेन' अप्रमाणकरणेन । तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञातं विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । 'राजा विव सक्खिकदो' राजेव साक्षीकृतः । 'कज्जम्मि विसंवदंतेण' कार्ये विसंवदता । एतदुक्तं भवति राजसाक्षिकं प्रतिज्ञातं कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ।
तस्सक्खिदं कयं सो पच्चक्खाणं ण भंजिज्ज ॥१६३०॥

'जइ दे कदा पमाणं' यदि ते कृताः प्रमाण । 'अरहंतादी' अर्हदादयः । 'भवेज्ज' भवेयुः । 'खवएण' क्षपकेण । 'तस्सक्खिदं कदं पच्चक्खाणं' तत्साक्षिकं कृतं प्रत्याख्यानं । 'सो ण भंजिज्ज' क्षपको न नाशयेत् ॥१६३०॥

सक्खिकदरायहीलणमावहइ णरस्स जह महादोसं ।
तह जिणवरादिआसादणा वि दोसं महं कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध, केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व संघको साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्यागको तोडनेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भंग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शंका होनेपर त्यागके भंगकी बुराई कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमें विसंवाद करनेवाला पुरुष रा... अवज्ञा करनेका दोषी होता है । वैसे ही अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार... गये त्यागको तोड़नेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करन... दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहन्त आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हें उनकी साक्षिपूर्व... किये गये त्यागका भंग नहीं करना चाहिये ॥१६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

१. न भ्रमयेत्—अ० ।

'सक्खिकदरायहीलणं' साक्षीकृतराजपरिभव । 'आवहदि णरस्स जह महादोसं' आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं । 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि । 'दोसं महं कुणदि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रय, आगमं । 'आयरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महड्ढीए' महद्धिकान् । 'एदे' एतान् । 'आसादंतो' असादयन् । 'पावदि' प्राप्नोति । 'पारंचियं ठाणं' पारंचिय-नामधेयं प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे दु दोसं करे दु एक्कभवे ।
भवकोडीसु य दोस जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजाताद्दोषादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥१६३४॥

णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरिंतु कालगदो ।
जह भंजणा दु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमें दोषका भागी होता है। किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है। अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है। मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता। किन्तु व्रतका भंग बहुतसे भवोंमें विनाश-कारी होता है ॥१६३४-३५॥

---

1. एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति ।

'सक्खिकदरायहीलणं' साक्षीकृतराजावमानने । 'आवहदि णरस्स जह महादोसं' आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं । 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि । 'दोसं महं कुणदि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदं आइरिए गणहरे महड्ढीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदं' तीर्थंकरान्, रत्नत्रय, आगमं । 'आयरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महड्ढीए' महर्द्धिकान् । 'एदे' एतान् । 'असादेंतो' आसादयन् । 'पावदि' प्राप्नोति । 'पारंचियं ठाणं' पारंचिय-नामधेयं प्रायश्चित्तस्थानं ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे दु दोसं करे दु एक्कभवे ।
भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमाननादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भंजतस्स ण वरमरहंतादिसक्खिकदं ॥१६३४॥

णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ।
जह भंजणा दु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते है—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमें दोषका भागी होता है। किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है। अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है। मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता। किन्तु व्रतका भंग बहुतसे भवोंमें विनाश-कारी होता है ॥१६३४-३५॥

---

१. एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति ।

'संविग्गकारायहोलणं' साक्षीकृतराजापरिभव. । 'आवहदि णरस्स जह महादोसं' आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं । 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि । 'दोसं महं कुणदि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदं आइरिए गणहरे महड्ढीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रयं, आगमं । 'आयरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महड्ढीए' महर्द्धिकान् । 'एदे' एतान् । 'असादेंतो' असादयन् । 'पावदि' प्राप्नोति । 'पारंचियं ठाणं' पारंचिकनामधेयं प्रायश्चित्तस्थानं ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे दु दोसं करे दु एक्कभवे ।
भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानाद् अर्हदादयवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥१६३४॥

णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ।
जह भंजणा दु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमें दोषका भागी होता है। किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है। अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है। मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता। किन्तु व्रतका भंग बहुतसे भवोंमें विनाशकारी होता है ॥१६३४-३५॥

---

1. एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति ।

अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुहं ॥१६५७॥

'अच्छिणिमेसणमित्तो' अक्षिनिमेषणमात्रः कालः । आहाररसास्वादजनितसुखस्य । गृद्धया वेगेन निगिरति । यतो गृद्धया च विना नास्तीन्द्रियसुखं ॥१६५७॥

दुक्खं गिद्धीघत्थस्साहदूटंतस्स होइ बहुगं च ।
चिरमाहड्डियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

'दुक्खं गिद्धीघत्थस्स' दुःखं महद्भवति लम्पटतया परवशयाभिलषतः । 'चिरमाहड्डियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए' अन्नगृद्धया चिरं व्याकुलस्य दरिद्रबधिनो दासेरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुहस्स चुक्केज्ज ।
चुक्कइ हु संकिलिसेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

'को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं' को नामाल्पसुखनिमित्तं महतो निर्वृतिसुखाद्भ्रश्यते च मुनिः संक्लेशेन स्वर्गापवर्गसुखाभ्याम् ॥१६५९॥

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं ।
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥१६६०॥

'महुलित्तं' मधुना लिप्तामसिधारां आस्वादयति । सविषमन्नं भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थनां करोति ॥१६६०॥

बादमें। अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

गा०—इस प्रकार आहारसे होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है। आहारकी गृद्धि होनेसे आहार वेगसे निगला जाता है और गृद्धिके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

गा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है। जैसे अन्नकी गृद्धिसे चिरकालसे व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसा ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

गा०-टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा। अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामें आहारमें आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे। मुनि संक्लेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

गा०-टी०—जो क्षपक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटता है और विष सहित अन्नको खाता है। अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

संगेहिं विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । 'संथारे विहरंता वि' संस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'संवि विवज्जंति' संक्लिष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्सममिमं कयं दुक्करं च सामण्णं ।
मा अप्पसोक्खहेदुं तिलोगसारं वि णासेइ ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्सममिदं' शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणायां अनशनादितपसा त्रिविधाहार यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जातं परिश्रममिदं । 'दुक्करं च कदं सामण्णं' दुष्करं कृतं च श्रा चिरकालं त्रिलोकसारं अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेदुं' अल्पाहारसेवाजनितसुखा 'मा विणसेहि' नैव विनाशय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमित्ता ।
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्तं' उपसर्गाणां परिषहाणां चोपनिपातैः अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्टं व 'सप्पुरिसणिसेवियं' सत्पुरुषनिषेवितं मार्गं 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्याः पुण्यवंतः । 'णिराव निरपेक्षाः परित्यक्तादानाः । 'संथारगया' संस्तरारूढाः । 'णिसज्जति' शेरते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्खं ।
कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मात् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोढव्वत्ति' परित्याज्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममतारहितो । 'दुक्खं विसहसु' दुःखं विसहस्व । 'कम्मफलमुवेक्खंतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिव्वेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्वं जायसंकिलेसादो ।
विणियत्तंतो दुक्खं पस्सइ परदेहदुक्खं वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है। पीछे संक्लेश परिणाम होनेसे संथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हें जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोड़ेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपसर्ग और परीषहोंके आनेपर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ममत्व निरपेक्ष होकर संस्तरपर आरूढ़ होकर विमुक्त होते हैं ॥१६७१॥

गा०—अतः यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरसे ममत्व मत करो। तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दुःखको इस प्रकार सहो मानो दुःख है ही नहीं ॥१६७२॥

'इय' एवं । 'पण्णविज्जंमाणो' प्रज्ञाप्यमानः । 'सो पुव्वं जादसंकिलेसादो' पूर्वं जातसंक्लेशात् । 'विणिवत्तंतो' विनिवर्त्यमानः । 'दुक्खं पस्सदि' दुःखं पश्यति । किमिव ? 'परदेहदुक्खं वा' परशरीरगतमिव दुःखं ॥१६७३॥

रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण था वि माणिस्स ।
माणजणणेण कवयं कायव्वं तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण' राजादिमहर्द्धिकागमनप्रयोगेण 'थावि माणिस्स' मानिनोऽपि । 'माणजणणेण' मानजननेन । 'कवयं कायव्वं' कवचः कर्तव्यः । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरतां द्रष्टुं अमी महर्द्धिका समायाताः । अमीषां पुरस्तादपि प्राणा यान्ति यान्तु नाम तथापि स्वां मनस्वितां नाहं त्यजामीति मानधनो दुःखं सहते न कुरुते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाइकवचं भणिदं उस्सग्गियं जिणमदम्मि ।
अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥१६७५॥

'इच्चेवमादिकवचं भणिदं' इत्येवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । 'उस्सग्गियो' औत्सर्गिक सामान्यभूतः । 'अववादियं च कवचं कादव्वं' विशेषरूपोऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यवगाढे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'जह कवचेण' यथा कवचेन । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिदो' छन्नः । 'रणमुहे सत्तूणमलंघिज्जो'

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमें हुए संक्लेशरूप परिणामोंसे अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीरमें नहीं है किन्तु किसी दूसरेके शरीरमें है ॥१६७३॥

गा०-टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभिमानीको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हें देख वह विचारता है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं। इनके सामने भले ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें। तथापि मैं अपनी मनस्विताको नहीं छोड़ूँगा। इस प्रकार वह मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभंग नहीं करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमें कवचका औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है। मृत्यु निकट होनेपर आपवादिक अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन किया है। यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है। जिसका अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमें विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये।

गा०—जैसे अभेद्य कवचके द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमिमें शत्रुओंके वशमें नहीं आता। तथा शत्रुपर प्रहार करनेमें समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७६॥

होदि' रणमुखे शत्रूणामलंघ्यो भवति। 'कम्मसमत्थो य' प्रहरणादिक्रियासमर्थः। 'जिणदि य ते' जयति तानरीन् ॥१६७६॥

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं।
जायइ अलंघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एवं खवगो' एवं क्षपकः कवचेनोपगृहीतः परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परं हारीन् ॥कवचुत्ति ॥१६७७॥

एवं अधियासेंतो सम्मं खवओ परीसहे एदे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एवं अधियासेंतो' एवं सहयानः सम्यक्परीषहानेतान्। सर्वत्राप्रतिबद्धः शरीरे, वसतौ, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो।
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममतादोषः ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति 'णिप्पणयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोहः सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

संयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठां, इष्टयोगे 'रदि' रतिं, हर्षं, इष्टविप्रयोगे अरतिं दीनतां। 'उस्सुगत्तं' उत्सुकतां च तथा 'जहदि' जहाति क्षपकः कवचेनोपगृहीतः ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमें नहीं आता। तथा ध्यान करनेमें समर्थ होता है और उन परीषहरूपी शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोंमें अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा संकल्प नहीं करता। तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमें समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोंमें नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमें 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता। किन्तु सबमें समभाव रखता है। न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपगृहीत हुआ क्षपक संयोगमें रति, वियोगमें अरति, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके संयोगमें रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।
रागं वा दोसं वा पुव्वं जायंपि सो जहइ ॥१६८१॥

'मित्ते सुयणादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जातं रागद्वेषं वासौ जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पत्थणं खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवगोचरभोगप्रार्थनां न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीतः । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं वि॰णासंति ॥१६८४॥

स्पष्टं उत्तरगाथाद्वयं ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुड़नेपर चित्तमें प्रसन्नता होना, अनिष्टका संयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दु:खी होना, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमें उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका संयोग होनेपर रोमांच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोंमें, बन्धुबान्धवोंमें, शिष्योंमें साधर्मी जनोंमें और कुलमें, पूर्वमें उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमें या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमें जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साथ ही आगे भी रागद्वेष नहीं करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोंकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें, इस लोक और परलोकमें, जीवन और मरणमें, मान और अपमानमें सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है। क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

---

१ विरायेंति मु० ।

अवहट्टु कायजोगे व वचिप्पओगे य तत्थ सो सव्वे ।
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा ॥१६८९॥

'अवहट्टुकायजोगे' काययोगान्वाक्प्रयोगांश्च सर्वान्निराकृत्य अशाक्य मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारान्निरुद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं भानाकार्य यस्य सः ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'एवं सव्वत्थेसु वि' एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षां च पदवादुपैति क्षपकः ॥१६९०॥

मैत्रीप्रभृतीनां चिन्तानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

'जीवेसु मित्तचिंता' अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । 'करुणा य होइ अणुकंपा' शारीरं, आगन्तुकं मानसं स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिकाः । सुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ समता गता ।

गा०—वह सब काययोगों और वचनयोगोंको दूरकर शुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है। क्योंकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमें जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार सब वस्तुओंमें समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है। फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०-टी०—अनन्तकाल चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए घटीयंत्रकी तरह सभी प्राणियोंने मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मैत्री है। असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर, अरे बेचारे मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगसे उपार्जित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विपदाओंको विवश होकर भोगते हैं। इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं। यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं। यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मानरहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है। सुखमें राग और दुःखमें द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

मनसयोर्न विपरिणमते सोऽत्रनिर्धार्यते जितरागद्वेषः इति । तस्योपायो जितेन्द्रियतैत्याचष्टे—जइ जिदिदिओ इति वाक्यशेषं कृत्वा सम्बन्धः । 'जिदिदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोग: परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्तात्मनः [1]सत्या, युगपद्द्वयोरुपयोगयोरात्मन्येकत्र विरोधादप्रवृत्तेः । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति सम्भवो रागद्वेषयोः । सङ्कल्पपूर्वको हि तावेतौ । 'जिदकसाओ' क्षमामार्दवार्जवसन्तोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातो रत्यरतिपरिणामो, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्यग्ज्ञानभावनया मथ्नाति यः स भण्यते 'अरदिरदिमोहमथणो' । एवं निरस्तध्यानप्रतिबन्धपरिणामः । 'ज्झाणोवगदो होदि' ध्यानाख्यं परिणाममधिगतो भवति । न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्थयाथात्म्यग्राहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं ।
संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥१६९४॥

'धम्मं चदुप्पयारं' धर्मध्यानं चतुःप्रकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मः । स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति । स्वभावातिशयसद्भावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनमें निश्चित करके राग द्वेषरूप परिणमन नहीं करता । उस यतिको जितराग द्वेष कहते हैं । उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है । उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है ।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमें ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है । क्योंकि एक साथ एक आत्मामें दो उपयोगोंका विरोध होनेसे दो उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नहीं हो सकते । क्योंकि रागद्वेष संकल्पपूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष परिणामसे कषायरूप परिणामोंके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकषाय कहते हैं । अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोंको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो सम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते हैं । इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामोंको दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है । जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है । और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है । ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं । चतुर्गति परावर्तनरूप संसारमें जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते हैं । चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है । स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

1. एव वृत्तात्मनः सत्यं आ०—योगे आत्मनः प्रवृत्तौ सत्या मु० ।

वस्तुस्वभाववाची। धर्माद्वस्तुस्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते। यद्येवमार्तादेरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति। सम्प्रयुक्तामनोज्ञवस्तुवियोगं, वियुक्तमनोज्ञवस्तुयोगं, रोगातङ्काद्युपशमनं, अभिमतप्राप्ति च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मादनपेततेति। नैष दोषः विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्दः। अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थान-मित्यादिकैर्धर्मैर्ध्येयैरनपेतत्वाद्ध्यानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते। ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूपं तदविनाभावि च ज्ञानं ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयं। अन्ये तु व्याचक्षते-क्षमामार्दवार्जवादिकाद्धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति। ननु च ध्यानं ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते। अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यत्राप्रवृत्तेः 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते'। उत्तम-क्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मादनपेतत्वा-द्धर्म्यध्यानता स्यादत्रोच्यते—रूढिशब्देषु क्वचित्संभाविनीं क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते। न सा क्रिया तन्त्रं आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमानः स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि वैनतेयादौ प्रवर्तते। तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते। धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते। अथ किं ध्यानं, 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-

---

है। इसीसे गधेके सींग नामकी कोई वस्तु नहीं है। अतः धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है। धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है। क्योंकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके संयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अतः वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अतः आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मोंसे युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शंका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके विना ध्यान नहीं होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अतः उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नहीं कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। तब तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनता; क्योंकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनसे हटकर अन्यमें प्रवृत्त होता नहीं। यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रूढिशब्दोंमें कहींपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नहीं होती। जैसे आशु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोड़ा बैठा होता है या सोता है तब भी उसे अश्व (घोड़ा) ही कहते हैं। तथा गरुड़ वगैरह तेज चलते हैं किन्तु उन्हें अश्व नहीं कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नहीं कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शंका—ध्यान किसे कहते हैं?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम् [त० सू० ९।२७] इति चेत् षट्सु संहननेष्वाद्यं त्रितयं संहननं च वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येत्येकाग्रं तस्मिंश्चिन्तानिरोधः स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोधः चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथं वा कर्मणां भावे अभावे च निमित्तता । आर्तरौद्रयोरशुभकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणां निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । "[1]केचिदेवं वदन्ति' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पंदवती तस्या एकस्मिन्नग्रे नियमश्चिन्तानिरोध इति त इदं [2]प्रष्टव्याः । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेकत्रैव प्रवर्तते ? एकत्रैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलम्बनं परिस्पन्दं नासादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसंगता, 'तस्मादेवमत्र व्याख्यानं [3]चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्यं चार्थमवलम्बमानं ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसंहननग्रहणादेवार्तरौद्रयोरनुत्तमसंहननेषु तिर्यङ्मानवेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्ध्यानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानींतनानामपि तयोर्वृत्तेः सूत्रान्तरविरोधश्च "तदविरतदेश-

---

कहते हैं। छह संहननोंमेंसे आदिके तीन संहनन वज्रर्षभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन उत्तम हैं। इनमेंसे एक संहनन जिसके हो उसे उत्तम संहनन कहते हैं। उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमें जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव। अभाव एक मुख कैसा? तथा अभाव कर्मोंके भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है? आगममें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ कर्मोंके आस्रवबन्धमें निमित्त कहा है। तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्योंमें निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है।

समाधान—चिन्ता निरोधमें निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना। जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना।

शङ्का—जिसमें हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थोंका अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है। उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है। उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थोंका आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमें कैसे रुक सकती है? यदि वह एक ही स्थानमें रुक सकती है तो नाना अर्थोंके अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नहीं हो सकती। इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है। इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिति धातुसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है। अतः चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है। वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थोंको जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करता है अतः वह परिस्पन्द वाला है। उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति। क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वहीं निरुद्ध कहा जाता है।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमें 'उत्तम संहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम संहननवाले तिर्यञ्चों और मनुष्योंमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं हो सकेंगे। ऐसा होनेसे उन ध्यानोंको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नहीं बनेगा। तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९।२७ । २. द्रष्टव्याः अ०, आ० । ३. चितिशब्देन—अ० ।

विरतप्रमत्तसंयतानां" "हिंसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो"रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात्।

अत्र प्रतिविधीयते — निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते मुक्तं साक्षात् मुक्त्यङ्गं ध्यानं निर्देष्टुमिति मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण। यद्येवं आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जराहेतुतास्त्यार्तरौद्रयोरिति। अत्रोच्यते 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्रं' मुख्यं ध्यानं मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमार्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतदेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि ध्यानं निरूपयति। प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमतः प्रासंगिकयोः आर्तरौद्रयोरुत्तरन्यास इति न दोषः। अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत आत्मन उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः॥ 'सुक्कं च चदुविधं' शुक्लं च ध्यानं चतुर्विधं ध्यानं क्लेशापहरं संसारदुःखभीरुः चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीतः। 'दोण्णि वि' द्वे 'झाणाणि' ध्याने धर्म्यशुक्ले 'सो' क्षपकः 'झादि' ध्यायति॥१६९४॥

ण परीसहेहिं संताविदो वि सो झाइ अट्टरुद्दाणि।
सुट्ठुवहाणे सुद्धं पि अट्टरुद्दा वि णासंति॥१६९५॥

'ण परिस्सहेहिं' स क्षपकः 'परिस्सहेहिं' परीषहैः। 'संताविदो वि' बाधितोऽपि 'अट्टरुद्दाणि' आर्त

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं। तथा उक्त कथनका विरोध अन्य सूत्रोंसे भी होता है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और रौद्रध्यानके स्वामियोंका कथन किया है। यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतों के होता है। रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवें अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है।

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान है ऐसा सूत्र नहीं कहना चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नहीं है।

समाधान—'उत्तम संहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य करके रचा गया है। आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये है, एकाग्र चिन्ता निरोध सामान्यमें अन्तर्भूत सब ध्यानोंको बतलाता है। अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है। यद्यपि वे मोक्षके कारण नहीं हैं। अतः अनिष्ट ध्यानोंसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोंका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने आर्त और रौद्रध्यानोंका कथन किया है। अथवा उत्तम संहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका उपलक्षण है। उत्तमसंहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है। संसारसे भीत क्षपक धर्म्य और शुक्लध्यानोंको ध्याता है॥१६९४॥

गा०—वह क्षपक परीषहोंसे पीड़ित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता। क्योंकि

रौद्रं च 'न झाइ' ना ध्याति । 'सुट्ठुवहाणे' सुष्ठु उपधाने । शुद्धमपि 'अट्टरुद्दाणि णासंति' आर्तरौद्रध्याने नाशयतः ॥१६९५॥

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा ।
ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अट्टे चदुप्पयारे' आर्ते चतुःप्रकारे, 'जे भेदा रुद्दे य चदुव्विधे' ये भेदाः । 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति । 'संथारगओ' संस्तरगतः । 'तओ खवगो' असौ क्षपकः । यो यत् परिहर्तुमिच्छति कथं तत्तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेदिच्छेद्[1] वार्य आर्तरौद्र परिहर्तुं तस्मात् ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥१६९७॥
तेणिक्कमोसहिंसारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे ।
रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥१६९८॥
अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभये सुग्गदीए पच्चूहे ।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्टु' अपहृत्य । 'अट्टरुद्दे' आर्तरौद्रे । महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेर्विघ्नभूते । 'धम्मे सुक्के वा' धर्मे शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुगतमतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्त और रौद्र ध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् संक्लेशरहित परिणामोंसे, विशुद्ध अर्थात् कर्मोंको निर्जीर्ण करनेकी शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरूढ़ क्षपक जानता है। जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपसे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है। अतः क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये संक्षेपमें कषायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झूठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आरम्भको लेकर संक्षेपसे कषाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतिमें विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

---

1. दिच्छेद वार्य —अ० ।

[illegible] शुभध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ।
चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥१७००॥

'इंदियकसायजोगणिरोधं' [illegible] उपयोग [illegible] । कषायाः क्रोधादयः [illegible] सम्बन्धस्तस्य निरोधं [illegible] निर्जरां च [illegible], [illegible] जन्योपयोगमभ[illegible] [illegible] 'चित्तस्स य वसियत्तं' [illegible] इच्छन् [illegible] चित्तमग्नुत्स्थापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत [illegible] । 'मग्गादो अविप्पणासं च' मार्गाद्रत्नत्रयाद् विप्रणाशं च वाञ्छन्, अशुभध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रवर्तते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ।
अप्पाणंहि सदिं संधित्ता संसारमोक्खट्ठं ॥१७०१॥

'किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु' बाह्यद्रव्यालोकात् किंचिदपावर्त्य दृष्टिम् । 'झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ' एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य । [1]दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्तः । 'अप्पाणंहि' आत्मनि । 'सदिं' स्मृतिं । 'संधित्ता' संधाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, 'संसारमोक्खट्ठं' संसारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शंकाके उत्तरमें उसके कारण कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है । कषायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नहीं होती और न कषायोंको उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमें रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मै अशुभ ध्यानमें लगा तो रत्नत्रयसे च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमें चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामें स्मृतिका अनुसन्धान करे । गाथामें 'निरुद्ध दृष्टि' पद है । यहाँ दृष्टिमें निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

---

१ चैतन्यदृष्टि निमित्ते शब्दोऽत्र युक्तः –अ० आ० । –चैतन्यः दृष्टिनिमित्ते चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारा० ।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियाइं मणं च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥१७०२॥

'पच्चाहरित्तु' प्रत्याहृत्य । 'विसयेहिं' विषयेभ्यः । 'इंदियाइं' इन्द्रियाणि 'मणं च' मनश्च व्यावर्त्य । 'तेहिंतो' विषयेभ्य । 'मण तं धारेदि' तन्मनो धारयति । क्व ? 'अप्पाणंहि' आत्मनि । 'जोगं' योगं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । 'पणिधाय' प्रणिधाय स्थाप्य । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोइन्द्रियमति धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोधः किं करोतीत्याशङ्कयमाह—

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ।
आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥१७०३॥

'एयग्गेण' एकध्येयमुखतया । 'मणं रुंभिऊण' मनो निरुध्य । 'धम्मं' धर्म्यं वस्तुस्वभाव । 'चउव्विहं' चतुर्विधं चतुर्विकल्पं । 'झादि' ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्तः सूत्रकारेण । बाह्य परिकर उच्यते । पर्वतगुहायां, गिरिकन्दरे, दर्यां, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमृगाणां पशूनां, पक्षिणां, मनुष्याणां वा ध्यानविघ्नकारिणां सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतातपवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शे भूभागे मन्दं-मन्दं प्राणापानप्रचारः नाभेरूर्ध्वं हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचयं प्रणिदधातीति बाह्यपरिकरः । 'आणापायविपाकविचये' आज्ञा-

---

ज्ञानमें मनको लगाकर श्रुतसे जाने हुए विषयोंका स्मरण करते हुए आत्मामें लीन हो। यह ध्यान संसारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोंसे इन्द्रियोंको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामें मनको लगाता है। अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी शुद्ध आत्मामें मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमें मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रंथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है। टीकाकारने बाह्य सामग्री इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामें, या पहाड़की कन्दरामें, या वृक्षके कोटरमें या नदीके किनारे या स्मशानमें या उजड़े हुए उद्यानमें या शून्य मकानमें, जहाँ ध्यानमें विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु पक्षी और मनुष्योंका वास न हो, तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरसे आनेवाले जीव जन्तु न हों, गर्म या सर्द, घाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चचल करनेके साधन न हों। ऐसे स्थानमें जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमें या मस्तकपर अथवा अन्य स्थानमें अपने मनोव्यापारको रोकता है। यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है। ऐसा करके चार प्रकारका धर्मध्यान करता है। उनमेंसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—

विचयमपायविचयं, विपाकविचयं, 'संठाणविचयं च' संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्ध्यतिशये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि सर्वज्ञज्ञानप्रामाण्यात् आगमविषयतत्त्वं तथैव नान्यथेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चयज्ञानं आज्ञाविचयाख्यं धर्मध्यानं । अन्ये तु वदंति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदामाज्ञा बोधयितु शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादौ संसारे स्वैरमनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभमनोवाक्कायेभ्योऽपाय कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमांसास्मिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । जात्यन्धसंस्थानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिंस्तदपायविचयं इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचय ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणां चतुर्विधबन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्रमध्यमंदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणां द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणां एतासु गतिषु योनिषु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः । वेत्रासनझल्लरीमृदंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयो विचारोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥१७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमें नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममें तो तत्त्व जैसा कहा है वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है, इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है। इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयंको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है। किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमें कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत युक्तियोंकी खोजमें मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमें संलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस अनादि संसारमें स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमें मेरा अशुभ मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है। जन्मसे अन्ध मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो उसे अपायविचय कहते हैं। अथवा संसारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे अलग हों, कैसे उन्हें छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है। विपाकविचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीव्र मध्य और मन्द परिणामोंके विस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोंका कि इन गतियोंमें अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है। इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है। तीनों लोकोंका आकार वेत्रासनके समान है, मध्यलोक

धर्म्मध्यानस्य लक्षणं निदिशति—

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा ।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

'धम्मस्स लक्खणं से' से तस्य । 'धम्मस्स' धर्मस्य ध्यानस्य । 'लक्खणं' लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । 'अज्जवलहुगत्तमद्दवमुवदेसा' आकृष्टान्तद्वयतन्तुवत् कुटिलताविरह आर्जवं । 'लघुगत्तं' लघुता निस्संगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशनं कथनमुपदेशः हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभि कार्यैर्लक्ष्यते धर्म्मध्यानमिति आर्जवादिकः लक्षणं । न ह्यार्तरौद्रे आर्जवादिकं संपादयतः । यदार्जवादिक परिणाममात्मन करोति तद्धर्म्मध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्म्मध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मे प्रवर्तते, तेनार्जवादिकं कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्ष्मतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । 'आलम्बणं च' आश्रयश्च । कस्स ? 'धम्मस्स' धर्मध्यानस्य, 'वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ' वाचना प्रश्न., परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झाझके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंगके समान है । इस प्रकार तीनों लोकोंके संस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिससे धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है । एक धागेको दोनों ओरसे ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं । लघुता अनासक्ति और निर्लोभताको कहते हैं । जाति आदि आठ बातोंका गर्व न करना मार्दव है । 'उप' अर्थात् किसीके पास जाकर 'देश' अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है । आर्जव आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्त और रौद्रध्यान वालोंको आर्जव आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभसे घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता । अतः आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं । तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः। न तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्बनता स्वाध्यायस्य। 'तेण' तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धा 'सव्वाणुपेहाओ' सर्वानुप्रेक्षाः एकदैकस्याश्रये वृत्तेरविरोधः। अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासावालम्बनं ध्यानमिति। एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्तर्भावित्वमाचक्षाणेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभिः। तत्राज्ञाविचयं निरूपयति—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पंचेव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया आकाशमिति। तान् 'छज्जीवणिकायो' षड्जीवनिकायान्[1] 'दव्व' कालाख्यं द्रव्यं 'अण्णे य' अन्यांश्च कर्मबन्धमोक्षादीन्। 'आणागेज्झे भावे' सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान्। 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन 'विचिणादि' विचारयति। सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषैः परमकारुणिकैः[2]ययामी निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ताप्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत्। 'आणापायविवागविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥१७०७॥

'कल्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरत्वदायकानां दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् निःशङ्कादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद है। यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है। यह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका नाम ध्यान है। अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है। तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमें एक आश्रयमें रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं। वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका चिन्तन अनुप्रेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं। इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओंको ध्यानमें अन्तर्भूत करके आगे अनुप्रेक्षाओंके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते हैं। सबसे प्रथम आज्ञाविचयको कहते हैं—

गा०-टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश। इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह जीवनिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही ग्राह्य है, आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित सर्वज्ञ देवने जिनका कथन किया है वे उसी रूप हैं। इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

टी०—तीर्थंकर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय निःशंकित आदिका विचार

१. [illegible] —आ० मु०। २. [illegible] —आ०।

'जिनमतं' जिनप्रणीतं उपदेशं । 'विचिणादि वा अवाये जीवाणं सुभे य असुभे य' जीवानां शुभाशुभकर्मविपाकापायान् तान्विचारयति । एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ता-प्रबन्धोऽपायविचयो नाम । स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

[1]एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥१७०८॥
अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्ढलोए' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान् । 'विचिणादि' विचारयति । कीदृग्भूतान् । 'सपज्जए' सपर्यायान् ससंस्थानसहितान् सपर्यायत्रिभुवनसंस्थानविचारपरं संस्थानविचयाख्यं धर्मध्यानं । 'एत्थेव' अत्रैव । 'अणुगदाओ' अनुगता । 'अणुपेहाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि । 'विचिणादि' विचारयति । अनित्यत्वादिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥१७०९॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशङ्कायामध्रुवादीननुप्रेक्षान्निरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

[2]अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं ।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्‌के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है। अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मविषयक अपायोंका विचार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मोंसे कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मोंके फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। क्रमसे कर्मोंका अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मोंका फल देना उदीरणा है। अर्थात् जो कर्म उदयमें नहीं आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक घटाकर कर्मका उदयमें लाना उदीरणा है। और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना संक्रम है। इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इसी संस्थानविचयमें सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओंका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें संसारके अनित्यत्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओंका कथन करते हैं—

गा०—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

---

१. अ० प्रती गाथेयं नास्ति । २. एतां श्रीविजयो नेच्छति ।

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसंदंसणसमाओ ॥१७११॥

'लोगो विलीयदि इमो' लोको विलयमुपयाति । किमिव ? 'फेणोव्व' फेनवत् । 'सदेवमाणुसतिरिक्खो' देवैर्मानुषैस्तिर्यग्भिश्च समन्वित । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशिताभिहिता । 'रिद्धीओ सव्वाओ' ऋद्धयः सर्वा । 'सुमिणगसंदसणसमाओ' स्वप्नज्ञानसमाः । ननु 'लोगो विलीयदि इमो' इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्ध्यादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यासः ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृतां तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्ययं त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति निस्संगतामात्मनः संपादयितुं—

विज्जूव चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं ।
जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

'विज्जूव चंचलाइं' विद्युदिव चञ्चलानि, 'दिट्ठपणट्ठाइं' दृष्टप्रणष्टानि, 'सव्वसोक्खाइं' सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मनःसमुत्थानि सर्वेषां वा मानवानां तिरश्चां दिविजानां वा सुखानि सुखलम्पटतया जनः क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविनतसंभारगम्भीरधारारावनीलनीरदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्प्रकटनेन सांसारिकसुखपराङ्मुखतोपायो निगदितः । 'जलबुब्बुदोव्व' जलबुद्बुदवत् । 'अधुवाणि' अध्रुवाणि । 'होंति' भवन्ति ।

गा०-टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है। इससे तीनों लोकोंको विनाशशील कहा है। सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके समान विनाशीक हैं।

शङ्का—'लोक विनाशशील है' इससे सबको अनित्य कह दिया है। ऋद्धि आदि भी लोकके अन्तर्भूत हैं। फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है। अतः अवयवोंकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नहीं होता। इससे ऋद्धियोंको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोंको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योंकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है। इसीसे यह द्रव्यके लिये प्राणों तकको त्याग देता है। अतः आत्माको निःसंग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०-टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोंके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यों तिर्यञ्चों और देवोंका सब सुख बिजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है। आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकड़ों वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है। किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नम्र हुए गम्भीर घोर शब्द करने वाले नीले बादलोंके उदरमें चमकने वाली बिजुलीकी तरह हैं। इस अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सांसारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है। तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं।

१. नरभभगं –अ० । २. नीरदोदपरि –अ० ।

'ठाणाणि सव्वाणि' सर्वाणि स्थानानि। तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि। इदं मदीयं स्थानं अत्राहं वसामीति मा कृथाः संकल्पं। तानि अनित्यानि नित्यबुद्धया परिगृहीतानि विनाशे संक्लेशमानयन्तीति भावः। अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणभृत इतीन्द्रत्वं, चक्रलाञ्छनत्वं, गणाधिपतित्वं वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी।
सव्वेसिं आसया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥१७१३॥

'णावागदाव' नावमारूढा इव 'बहुगदिपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगतिकर्मवशात् मनुष्यगतिदेवगतिनारकगतितिर्यग्गतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धवः सर्वेऽपि। एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता। उपात्तगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीनां गत्यन्तरमुपगतानामपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते। 'सव्वेसिं आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेऽप्याश्रयाः स्वामी भृत्यः पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्भसंघाया अभ्रसंघाता इव ॥१७१३॥

संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए।
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिच्चा सव्वजीवाणं ॥१७१४॥

'संवासो वि' सहावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रैः परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्यः। 'पहियाणं पिण्डणं व

जिनमें जीव ठहरते हैं उन्हें स्थान कहते हैं। वे स्थान हैं—गाँव, नगर आदि। यह मेरा स्थान है। मैं यहाँ रहता हूँ। ऐसा संकल्प तुम मत करो। वे स्थान अनित्य हैं। उन्हें नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमें बड़ा संक्लेश होता है। अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयसे प्राणी जिनमें रहते हैं वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद। ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०-टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोंसे बाँधे गये गति नामकर्मके वशसे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यञ्चगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले हैं अतः वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं। जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमें चले जाते हैं। इससे बन्धुताको अनित्य कहा है। जो जिस गतिमें है वह उसी गतिमें रहे, उसे छोड़े नहीं तो बन्धुपना स्थिर होता है। जिस गतिमें है उसे छोड़ अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई। जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमें चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता। तथा जिन आश्रयोंसे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पुत्र, भ्राता आदि ये सब मेघपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०-टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंसे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंको

छाहीए' नानादिग्देशागतानां पथिकानां भिन्नस्थानयायिनां मार्गोपकण्ठस्थितनिबिड[illegible] [illegible]वितत[illegible]शाखाकरस्तनिवारितघर्मरश्मिप्रसरतरुच्छायायां [illegible] [illegible] समाजः ॥ 'पीदीवि' प्रीतिरपि । 'अच्छिरागोव्व' [illegible] [illegible] अनित्या सर्वजीवानां । तथाह्यप्रियाचरण[illegible] [illegible] ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो ।
परिवेसोव्व अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥१७१५॥

'रत्तिं' रात्रौ । 'एगम्मि दुमे' एकस्मिन् द्रुमे । 'सगुणाणं' पक्षिणां । 'पिण्डणं व' पिण्डितमिव 'सजोगो' सयोगो [1]यस्यामस्तद्रुमाभिमुखं तत्र वयं प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यकृतसंकल्पानां यथाकथंचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला तथा प्राणभृतामपि समानकालकालमारुतप्रेरितानामेकस्मि[2]न् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसंप्रयोगः । 'परिवेसो व' परिवेष इव । 'अणिच्चं' अनित्यं । किं ? 'ईसरियाणाधणारोगं' ऐश्वर्यं प्रभुता आज्ञा धनं आरोग्यं च ॥१७१५॥

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं ।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥१७१६॥

'इंदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणां सामग्र्यपि । 'अणिच्चा' अनित्या । अंधता बधिरता च दृश्यत एव । 'मज्झण्हं व' मध्याह्नवत्, 'णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोगे' नराणां यौवनमनवस्थितं लोके यौवनोऽस्मिति जनः

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमें स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फैले हुए शाखाभारसे सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोंकी शीतल और घनी छायामें अपना समाज बनाकर बैठते हैं और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं। उन्हींकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोंके साथ सहवास भी अनित्य है। वे भी आयु पूरी होनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं। तथा सब जीवोंकी प्रीति भी अनित्य है। जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड़ जानेसे प्रिय स्त्रीकी क्रीड़ा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोंमें ललामी अनित्य है। अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके अनुभवसे सिद्ध है अतः प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेंगे, ऐसा परस्परमें सकल्प नहीं करते। फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमें मिल जाते हैं। उसी प्रकार संसारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये आ मिलते हैं। तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य हैं ॥१७१५॥

गा०-टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है। क्योंकि लोकमें अन्धे और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं। तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमें मनुष्योंका यौवन भी अनव-

---

१. तरुखदिरपलाशालकारवितत शा—आ० मु० । २. योगः सूर्यस्य अस्ते द्रुमा—आ० ।
३. मेकक—आ० ।

श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्यं मध्याह्नवत्। शिघ्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने [1]का यौवनकृतस्तीर्णमदः स्यान्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदछिदं चेव ॥१७१७॥

'चंदो हीणोव पुणो वड्ढदि' नियतराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाथः कृष्णपक्षे हीयते हीनो भवति। 'पुणो वड्ढदि' पुनः शुक्लपक्षे वर्द्धते। प्रतिदिनोपचीयमानकान्तिः। 'एदि य उदू अदीदोवि' हिमशिशिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतवः पुनरायान्ति 'न तु जोव्वणं णियत्तदि' नैव यौवनं निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदच्छिदं चेव' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति। तदिदं यौवनमित्यनेनानित्यता-विशेषो यौवनस्य दर्शित. ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि।
सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥१७१८॥

'धावदि गिरिणदिसोदंव' धावति गिरिनदीप्रवाह इव। किं? 'आउगं' आयु। 'सव्वजीवलोगंहि' सर्वस्मिन् जीवलोके। 'सुकुमालदा वि हीयदि' सुकुमारतापि हीयते। 'पुव्वण्ह छाही व' पूर्वाह्णच्छाया इव। यथा यथा द्युगच्छति तामरसबन्धुस्तथा तथोपसंहरति छाया शरीरादीनां ॥१७१८॥

अवरण्हरुक्खछाही व अट्ठिदं वड्ढदे जरा लोगे।
रूवं पि णासइ लहुं जलेव लिहिदल्लयं रूवं ॥१७१९॥

'अवरण्हरुक्खछाहीव' अपराह्णवृक्षच्छायेव। 'अट्ठिदं वड्ढदे' अस्थितं वर्द्धते। क्रियाविशेषणत्वान्न-पुंसकता। 'जरा लोगे' लोके। सौन्दर्यपल्लवदवानलशिखा, सौभाग्यप्रसूनकरकावृष्टिः, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

---

स्थित है। मनुष्य 'मैं युवा हूं' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है। यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धर्ममें प्रयत्नशील नहीं होता। किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालकी तरह अनवस्थित है। इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोंको मद कैसा? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नहीं है ॥१७१६॥

गा०-टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमें प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमें घटता है और पुनः शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है। तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएं भी जाकर पुनः लौटती हैं। किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमें नहीं लौटता। जैसे नदीमें गया जल फिर वापिस नहीं आता। उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता। इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमें आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह दौड़ती है। सुकुमारता भी पूर्वाह्णकी छायाके समान दौड़ती है। जैसे-जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है। उसी तरह ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०-टी०—जैसे अपराह्ण कालमें वृक्षोंकी छाया बढ़ती है वैसे ही लोकमें एक बार

---

1. को नृणां मदः स्यान्च —आ०।

ज्ञानलोचनपांसुवृष्टिस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीतेः प्रियसखी या जरा सा वर्द्धते। 'रूवंपि णासदि लहु' रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशततूणीरायमाणं, चेतोवलक्षसूक्ष्मवसनरञ्जने कौसुम्भरसायमानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्रूपं तल्लघु विनश्यति॥ किमिव ? 'जलेव लिहिदेल्लगं रूवं' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेओ वि इंदधणुतेजसण्णिहो होइ सव्वजीवाणं।
दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाणं ॥१७२०॥

'तेजोवि इंदधणुतेजसण्णिहो' शरीरस्य तेजोपि पौलोमीप्रियतमचापस्य तेज इव गर्जज्जननयनचेतःप्रमोदादायि क्षणेन क्षयमुपव्रजति। 'दिट्ठपणट्ठा' दृष्टप्रणष्टा 'बुद्धि वि' सकलवस्तुयाथात्म्यावकुण्ठज्ञानतमःपटलपाटनपटीयसी, विचित्रदुःखग्राहकदम्बकाकीर्णकुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमादीपवर्ति, सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासंफली एवंभूता बुद्धिरप्युल्केवाशु नाशमुपयाति ॥१७२०॥

अदिवडइ बलं खिप्पं रूवं धूलीकदंबरछाए।
वीचीव अद्धुवं वीरियंपि लोगम्मि जीवाणं ॥१७२१॥

'अतिवडइ बलं खिप्पं' क्षिप्रमतिपतति बलं 'रूवं धूलीकदंबरछाए' रथ्याया पांशुरचितरूपमिव।

आनेपर बुढ़ापा बढ़ता जाता है। यह बुढ़ापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये वनकी आगकी लपटके समान है। सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोंकी वर्षाके समान है। तारुण्यरूपी हरिणोंकी पंक्तिके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है। तपरूपी कमलोंके वनके लिये बर्फ गिरनेके समान है। अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते है। यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है। तथा जलमें लिखे हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षबाण चलाती है। चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रंगनेके लिये कुसुम्भके रंगके समान है। प्रीतिरूपी लताका मूल है। सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है। पूज्यताका किनारा है। ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है। जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमें नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है। जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमें अतिशय दक्ष है, विचित्र दुःखरूपी मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त कुगतिरूपी विशाल नदीमें प्रवेश करनेमें रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमें दीपककी बत्तीके समान है, समस्त सम्पदाओंको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमें धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

१ पुढनाशान—आ०।

'वीरियं' प्रचण्डपवनाभिघातोत्थितचलत्तरङ्गमालेव, 'अद्धुवं' अध्रुवं । 'वीरियं' वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता बलं वीर्यमात्मपरिणाम ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ।
जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्झब्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिगमिणं ।
ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुट्ठिया संता ॥१७२३॥

'किह' कथं तावत् । 'अणिच्चं जगं ण मुणंति' अध्रुवमिदं जगन्न जानन्ति । के ? 'सत्ताओ' सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वाः । 'सारदियमेघसरिसमिणं' शरदृतुसमुद्गतानेकवर्णविचित्राकाराम्बुदमालेव । 'मरणभयसमुट्ठिदा संता' मरणं विषं 'कृपणजीवितस्य' प्रियवियोगदारकस्य, शोकाशनिजलदपटलं, अयस्कान्तोपलं दुःखलोहाकर्षणे, बन्धुहृदयोपलानां द्रावकमौषधमायतापन्नामायतनं एवंभूतमरणभयसमुत्थिता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषयां ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यानं । अद्धुवं ॥१७२३॥

अशरणतानुप्रेक्षा । कर्माण्यशुभपरिणामोपार्जितानि कषायपरिणामोपनीतस्थितिकानि सन्निहितद्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छन्ति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्समर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः । गाथां दर्शयति—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।
अमदंपि विसं सत्थं तणं पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है। तथा जीवोंका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चंचल तरंगमालाके समान अध्रुव है। जीवोंके शरीरकी दृढ़ताको बल और जीवोंके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं। ये दोनों ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्फके समूहकी तरह अध्रुव हैं। तथा लोकमें यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने-अपने कामोंमें लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यों नहीं जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोंमें जो कष्ट उठाते हैं उन्हें सत्त्व कहते हैं। यह जगत् शरद् ऋतुमें उठे हुए अनेक रंग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है। तथा जिन्हें अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है। प्रियजनके वियोगरूपी पुत्रके लिये नदीका तट है। शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है। दुःखरूपी लोहको खींचनेके लिये चुम्बक पत्थर है। बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है। मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोंका भी मन पिघल जाता है। लम्बी विपत्तियोंका घर है। ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नहीं समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२३॥

---

१. मत्ता विदोवि स्व—आ० । २. कृपणजी—अ० ।

'भावयितव्यो' इत्यादि गाथा । उदिते कर्मणि बुद्धिर्नश्यति । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमजा च । सा द्वयी यस्यास्ति हितमवैति नेतरः । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धिं प्रवदन्ति सन्तः स्वाभाविकीमागमजन्मजां च ।
बुद्धिर्द्वयी यस्य शरीरिणः स्यादिष्टं हितं सो लभते न चान्यः ॥१॥
स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थाद्वाप्तं न तु शास्त्रमस्ति ।
द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्तो भाषां विना रूपमिवाक्षवानपि ॥२॥
तीर्थादवाप्तं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशुद्धा ।
श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि यतो यथान्धः ॥३॥
किं दर्पणेनावृतलोचनस्य [1]विदान भोगस्य धनेन वा किम् ।
शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मन्दमतेः श्रुतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं बध्नाति ज्ञानिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्यात् विघ्नकरणादासादनात् दूषणात् । ज्ञानार्जनविघ्नकरणात्

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ। आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोंसे होता है। जीवके ही कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर उन कर्मोंकी दीर्घ स्थिति होती है। प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं। जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता। अतः मैं अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक। जिसके दोनों प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है। जिसके वह बुद्धि नहीं होती वह नहीं जानता। कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई। जिस शरीरधारीके ये दोनों बुद्धियाँ होती है वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है। जिसके दोनों बुद्धिया नहीं है वह हितको प्राप्त नहीं कर सकता। जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको कह नहीं सकता। जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता। जैसे अन्धा पुरुष हाथमें दीपक होते हुए भी उसका फल नहीं पाता। जिसके लोचन मुंदे हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ? जो न दान देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ? जो डरपोक है उसे युद्धमें शस्त्रसे क्या लाभ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ?॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ज्ञानियोंसे, ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोंसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोंको छिपानेसे, प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगानेसे, ईर्षावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किसीके ज्ञानाराधनमें बाधा डालनेसे,

---

१. भा वाचमिवा —आ०। २. स्यावि —अ०।

महागुहा भीमतमः प्रवेशात् सदाप्यगाधाम्भसि मज्जनाच्च ।
घनाच्चिरं चारकरोधनाच्च स्याद्देहिनः कष्टतरोऽज्ञभावः ॥७॥
तमःप्रवेशोऽम्भसि मज्जनं च स्याद्दुःखकृच्चारकरोधनं च ।
जातावि है कत्र भवांस्त्वनन्तानज्ञानजं दुःखमनुप्रयाति ॥८॥
नालं विशालं नयनं तृतीयं श्रुतं च मत्या रहितो गृहीतुम् ।
अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेमे शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एवंभूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरणं न किञ्चित्तन्निवारणक्षमं शरणमस्ति । 'ण तस्स विस्सदि उवाओ' नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् 'अमदं वि विसं होदि' अमृतमपि विषं भवति । 'तणमपि सत्थं तृणमपि शस्त्रं भवति । 'णीआ वि होंति अरी' बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।
णीया अरी वि सत्थं वि तणं अमयं च होदि विसं ॥१७२५॥

'मुक्खस्स वि होदि मदी' मूर्खस्यापि भवति मतिः । 'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ' कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात् । 'णीया अरी वि' शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्थं वि तणं' शस्त्रमपि तृणं भवति, 'अमदं होदि विसं' विषमप्यमृतं भवति सद्वेद्योदये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पावोदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स' हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुंसः । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्णस्स' पुण्यवतः । 'एदि अत्थो' आयान्त्यर्थाः । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है। इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयंकर अन्धकारमें प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमें डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमें पड़े रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है। अन्धकारमें प्रवेश जलमें डूबना और जेलखानेमें पड़े रहना तो एक ही भवमें दुःखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोंमें दुःखदायी है। श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है। किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नहीं कर सकता। उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमें समर्थ कोई शरण नहीं है। उसके निवारण का कोई उपाय नहीं है। असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है। तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

गा०-टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते हैं—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है। पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मोके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमें शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयमें मनुष्यके हाथमें आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि पाउणदि दोसं ।
पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि लहदि गुणं ॥१७२७॥

'पाओदएण' अयशःकीर्त्युदयेन । 'सुट्ठु वि चेट्ठंतो' सम्यक् चेष्टमानः । 'कोवि पाउणदि दोसं' कश्चित्प्राप्नोति दोषं । 'पुण्णोदएण' पुण्यकर्मण उदयेन । 'दुट्ठु वि चेट्ठंतो' दुःखचेष्टां कुर्वन्नपि । 'कोवि लभदि गुणं' कश्चिल्लभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकित्ती ।
पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसपाओ ॥१७२८॥

'पुण्णोदएण' पुण्यस्योदयेन । 'कस्सइ होइ जसकित्ती' कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । 'पाओदएण' पापस्योदयेन । 'कस्सइ गुणवस्स वि' कस्यचित् गुणवतोऽपि । 'जसपाओ होदि' यशोपायो भवति ॥१७२८॥

णिप्पडिकम्मस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

'णिप्पडिकम्मस्स' निःप्रतीकारस्य कर्मणः । 'फले समुवट्ठिदम्हि दुक्खम्हि' समुपस्थिते दुःखे, 'जादि-जरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीये' जातौ, जरायां, मरणे, व्याधौ, चिन्तायां, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताणं सरणं च जो हवेज्ज इधं ।
पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

'जीवाण' जीवस्य । नास्ति कश्चित्त्राणं शरणं वा । 'जो हवेज्ज' यो भवेत् । 'पायालमदिगदो वि' पातालं प्रविष्टोऽपि । 'ण मुच्चदि' । न मुच्यते दुःखात् । 'सकम्मउदयेहि' स्वकर्मोदये सति ॥१७३०॥

गिरिकंदरं च अडविं सेलं भूमिं च उदधिं लोगंतं ।
अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाता है। और पुण्यवानको विना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयशःकीर्ति नामक कर्मके उदयमें सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है। और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशंसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयसे किसीमें गुण न होते भी उसका यश फैलता है। और पापके उदयसे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिसका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे क[illegible] [illegible]जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामें जीवका कोई [illegible] जाये। अपने कर्मके उदयमें पातालमें प्रवेश करनेपर भी [illegible]

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव णिरंकुसो मत्तो ॥१७३६।

'रोगाण पडिगारा दिट्ठा' व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औषधादयः । कर्मणां नास्ति प्रतीकारः। जगदशेषं मर्दयति कर्म मदगज इव निरङ्कुशो नलिनीवनं ॥१७३६॥

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।
रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥१७३७॥

'रोगाण पडिगारो' व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्तोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो रोगादीनां सोऽपि कर्मण्युपशम गत एव नानुपशान्तेऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ।
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होंति ॥१७३८॥

'विज्जाहरा य' विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरणं भवन्ति कर्मोदय इति गाथार्थः ॥१७३८॥

वोल्लेज्ज च कमंतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेदुं ॥१७३९॥

'वोल्लेज्ज' उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमि, समुद्र तरेत् प्लवमानः । उदीर्णस्य कर्मण. फलमुल्लङ्घयितुं न वेति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिंगिलगहिदस्स[1] मगो मच्छो व णत्थि जह सरणं ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥१७४०॥

'सोहतिमिंगिलगहिदस्स' सिंहेन तिमिंगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरणं भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोंके मिलनेपर उदयमें आये कर्मको जगत्में कोई रोक नही सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोंका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नहीं है। जैसे निरंकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड़ देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोंका प्रतीकार नही है। पथ्य औषध आदिसे जो रोगोंका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है। कर्मका उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नहीं होती ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नही होते। वे भी रक्षा नही कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लांघ सकता है। तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर सकता है। किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लंघन कोई महाबली भी नहीं कर सकता। उसे सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड़ ले तो दूसरा मृग उसको रक्षा नही कर सकता।

---

१. गिलिदस्स अ० ।

व्यावर्णितानामशरणत्वं मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

'दंसणणाणचरित्तं तवो य' ज्ञानं दर्शनं चारित्रं तपश्च रक्षा शरणं च भवति । जीवस्य कर्मणां नाशहेतुः कर्मण्युदीर्णेऽप्यसद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबन्धेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पापं करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बान्धवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मणः फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यतस्तत्रासंतो बान्धवाः किं कुर्वन्तीति आशंकां निरस्यति सन्निहिताः पश्यन्तोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४३॥

'रोगादिवेदणाउ' रोगादिदुःखानि । 'णिययकम्मफलं' निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मणः फलं । 'वेदयमाणस्स' वेदयमानस्य । 'समक्खं पेच्छंतावि' प्रत्यक्षं पश्यन्तोऽपि । 'णियया' निजका बान्धवाः, 'से' तस्य

या तिमिंगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उसको नहीं छुड़ा सकता। उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नहीं होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नहीं हैं ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण है ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोंके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक है और शरण हैं ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ। आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है। और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोंमें वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नहीं देखते क्योंकि वे वहाँ नहीं है इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते। इसके उत्तरमें कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते—

गा०-टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे संचित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नहीं करते। इस

'किंचिवि ण करंति' किंचिदपि प्रतीकारजातं न कुर्वन्ति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-कर्मफलसविभागकरणे समर्थः कश्चिदिति भावः ॥१७४३॥

तह तथा यथा दुःखं स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ।
भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्गलने । 'एक्कगो चेव मरदि' एक एव प्राणांस्त्यजति । 'ण विदिज्जगो होइ कोई' न सहायो भवति कश्चित् । तदीयं मरणं सविभज्य गृहीत्वा सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः । अन्यथा एक एव म्रियते इत्यघटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगाः द्रव्याणि अशनवसनमुख-वासादीनि । भोक्तुमनुभवितुं निजका बान्धवाः । 'बिदिज्जगा' सहायाः । 'ण पुण' न पुनः । 'कम्मफलं भोत्तुं णोयगा विदिज्जया' तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बन्धवस्सहायाः ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीगा अत्था' बन्धवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहाः कस्यचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोकं प्रति प्रस्थितं । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहाः । गृहीत्वा तान्यदि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगबंधवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमें जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमें समर्थ कोई भी नहीं है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वयं ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोंको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नहीं है । अर्थात् उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नहीं करता । यदि एक ही मरता है ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोंको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हें भोग कहते हैं । भोजन, वस्त्र, मुखको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोंको भोगनेमें तो अपने बन्धु-बान्धव सहायक होते हैं । किन्तु उसके कर्मोंका फल भोगनेमें कोई सहायक नहीं होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०-टी०—बन्धु-बान्धव, धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नहीं होते । जब यह जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नहीं जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंसे बहुत अनुराग रखता है । यह यदि उनको पकड़कर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नहीं जाते । जीव अकेला ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

स्वेनाभ्युपगतो बान्धवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादरः कार्यः। सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः। धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति। तत्रादरो क्रियते सूरिणा। अतिशयितधर्माख्यसहायनिरूपणेन जातिधनादीनां तथाभूतसहायताभावात् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति। अत्रोच्यते। सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामाः प्रशस्तगतिजातिगोत्रसंहननायुःसातादिकमात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानवः पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति। धर्मानुबन्धिनः पुण्यस्योदयात् दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसम्पत्तिश्च भविष्यतीति संभवत्युपकारसहायता धर्मस्य। ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणसुदमइओ' इति कथमुच्यते? अयमस्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्राभावान्न महत्यौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवतः। तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं किंच ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेयं अतः परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधानं उपेयत्वाच्चरणं प्रधानमिति। 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो' इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिषिद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते। सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीनां वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्यापि वैचित्र्यं नित्यत्वेऽपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते। अतिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुता न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये। सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है। इसलिये आचार्य उसमें आदर कराते हैं।

शङ्का—सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामें उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मोंको उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। उन कर्मोंके उदयमें जीव, देव अथवा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरतिचार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है। अतः धर्म सहायक और उपकारी है।

शङ्का—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अतः ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' कैसे कहा? यहाँ चारित्रके पश्चात् ज्ञानका निर्देश किया है?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्रका अभाव होनेसे बहुत अधिक संवर और निर्जरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते। इसलिये जो संवर और निर्जराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है। तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है। 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है। धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवमें सिद्ध है। अतः धर्मकी सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है।

शङ्का—सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख भी अनेक रूप है। इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है।

समाधान—कुछ साधन सातिशय सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

---

१. महायति —अ० मु०। २. वाम —अ०।

कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य। अथ न धर्मो हेतु 'स्वहेतुसामान्यायत्तता'[1] सुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयतदायत्तः फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते। ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावनां तद्‌गोचरानुरागनिवर्त्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥

'बद्धस्स बंधणेण व ण रागो' रज्जुशृङ्खलादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दुःखहेतौ यथा न रागः। तथा 'देहम्मि होदि णाणिस्स' सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये न रागो भवति। गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञाः। 'विससरिसेसु' विषसदृशेष्वपि 'ण रागो णाणिस्स' ज्ञानिनो नैव रागः। केषु? 'अत्थेसु सव्वेसु'[2]। कथमर्थानां विषसदृशतेति चेत्। यथा विषं दुःखदायि प्राणान्वियोजयति च तथार्थोऽप्यर्जनरक्षादिषु व्यापृतं दुःखेन योजयति, प्राणानां च विनाशे निमित्तं भवति। तथाहि। प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्परं प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता। 'अत्थेसु महाभयेसु' इति। यदि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन्न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विषकण्टकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकत्त ॥१७४८॥

हैं। इसमें धर्म भी कारण है या नहीं? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यों नहीं हुआ। यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन हैं और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है। अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है। शुभ परिणामोंकी हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

गा०-टी०—जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बंधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकतम रस्सी आदिमें राग नहीं होता क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके साधनोंमें भेदको जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमें राग नहीं होता। विद्वान्‌जन गुणोंके पक्षपाती होते हैं। अतः विषके समान सब अर्थोंमें ज्ञानीका राग नहीं होता।

शंका—सब अर्थ विषके समान कैसे हैं?

समाधान—जैसे विष दुःखदायी है, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपार्जन और रक्षणमें लगता है उसे दुःख देता है। तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमें घात करनेमें लगते हैं। इसीलिये ग्रन्थकारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोंको महाभयरूप कहा है। जो जिसका उपकार नहीं करता, बल्कि अपकार करता है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते। जैसे विषकण्टक

1. ध्रुवु—अ० मु०। 2. सव्वसु—अ० मु०।

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तरःप्रबन्धः—

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीयं ।
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'किहदा अण्णो जीवो अण्णं णीयं किह सोयदिति' पदघटना । अन्यो जीवो नीग स्वस्मादन्यं ज्ञातिवर्गं । 'दुक्खियं' दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति । 'ण य सोचदि' नैव शोचते । कं ? 'अत्ताणं' आत्मानं ? कीदृग्भूतं 'बहुदुक्खपुरक्कडं' शारीरैरागन्तुकै, मानसैः, स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृतं । 'अबुद्धि' मयाऽतीते काले चतसृषु गतिषु विविधासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणसान्निध्यापेक्षयानुपरतमापदः प्राप्ताः पुनरप्यागमिष्यंति मां खलीकर्तुं । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावेपि नासादयेदुदयं स कथमिव तद्धेतुकः ? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानश्चूताङ्कुरः । तथा सत्यसद्वेद्योदये यदि न स्युर्भवन्ति च । तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्यकृतबुद्धितया अबुद्धिः । एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सततं प्रयत्नं करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति । न च परो दुःखात्त्रातुं शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोकः फलदायिनां कर्मणां प्रतिबन्धकः, तथा चाभ्यधायि—

आदिको कोई अपना सहायक नहीं मानता । उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नहीं है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०-टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोंको दुःखसे पीड़ित देखकर कैसे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नहीं करता है कि अतीतकालमें मैंने चारों गतियोंमें अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेसे निरन्तर आपदाएँ भोगीं और वे आपदाएँ पुनः मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जौ बोनेपर आमका अंकुर पैदा नहीं होता अतः आमके अंकुरका कारण जौके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो असातावेदनीय दुःखका कारण नहीं हो सकता । किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अतः आत्माके प्रदेशोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अबुद्धि कहा है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी नहीं कर पाता । इससे दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूसरेको दुःखसे बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा ? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म रुक नहीं जाते । कहा भी है—

प्रीति पूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभि ।
न निवारयितुं शक्यं संहतैस्त्रिदशैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यद् दुःखमपेक्ष्य शोकोऽस्य व्यर्थं । अन्यशब्देन न स्वदुःखात् परदुःखस्योच्यते । अन्य परदुःखागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदुःखमात्मनोऽन्यतामरं प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपहननं कर्तुं न शक्य इति न शोचति [परदुःखं], स्वदुःखोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूरेः ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं ।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१७५०॥

'संसारंमि अणंते' अन्तातीते पञ्चविधे संसारे परिवर्तने । 'सगेण कम्मेण' आत्मीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्कन्धेन 'हीरमाणाण' आकृष्यमाणानां बहुविधां गतिं प्रति । 'को कस्स होदि सयणो' नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽयं विवेकः स्वजनोऽयं परजनोऽयमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजनः सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनतां नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशिः मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्वोऽन्य एवेति कृतव्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्रमविकलं भवति । 'सज्जदि जणंमि जणो' आसक्ति

'पूर्वमें मन, वचन, कायसे जो कर्म किये है। सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते'।

इसलिये दूसरेके दुःखको देखकर इसका शोक करना व्यर्थ है। अन्य शब्दसे परके दुःखको अपने दुःखसे भिन्न कहा है। परके आगत दुःखको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार परके दुःखको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका विनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नहीं करता। और अपने दुःखके विनाशमें प्रयत्नशील रहता है। यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते है कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है–

गा०–टी०—पंचपरावर्तन रूप संसारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्कन्धरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोंमें भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है ? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता। किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अधीन जीवोंका यह नियम नहीं हो सकता। अतः न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोंके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमें ही दया और प्रीति और किसीमें निर्दयता और द्वेष यह असामनतारूप व्यवहार नही बनता। इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

---

१. संहृतैस्त्रिदशैः –आ० । स्यानित्यतामीक्षमाणः –आ० ।

ाति जनं हि जनो ममायं भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दासःस्वामीति[1], वा मोहाद्वस्तुतत्वस्य अन्यतामात्रस्य निरस्तस्वजनत्वस्य[2] [3]परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभावं दर्शयत्युत्तरगाथा—

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
एंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

'सव्वो वि जणो सजणो' निरवशेषो जन्तुरनन्तः स्वजनः । 'सव्वस्स वि' सर्वस्यापि प्राणभृत' । 'तीदकालम्मि' अतीते काले 'आसि' आसीत् । 'एंते य तथा काले' भविष्यति तथा काले । 'होहिदि' भविष्यति । 'जणो जणस्स जणो' स्वजनो जनस्य जनः । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वः स्वजन आसीद्भविष्यति च । ततस्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य रति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । [4]तेऽप्यन्ये माप्य[5]न्यस्तस्य इत्येतदेव तत्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं ।
जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई ॥१७५२॥

'रत्ति रत्ति' रात्रौ रात्रौ । 'रुक्खे रुक्खे' वृक्षे वृक्षे । 'जह सउणयाण संगमणं' यथा पक्षिणां संगमनं । 'जादीए जादीए' जन्मनि जन्मनि । 'जणस्स' जनस्य । 'तहा' तथा । 'संगमो होदि' संगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थातुमसमर्थाः पक्षिणो योग्यं वृक्षमन्विष्य ढौकंते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितायुःपुद्गलस्कन्धाः परित्यक्तप्राक्तनशरीराः शरीरांतरग्रहणार्थिनः शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसंज्ञितमास्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है। यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवश करता है। वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमें सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे। तथा भविष्यत् कालमें सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और भविष्यमें सबके सब जीव स्वजन होंगे। इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन है इस प्रकारका संकल्प मिथ्या है। वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका संगम होता है उसी प्रकार जन्म-जन्ममें मनुष्योंका संगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आश्रयके बिना रहनेमें असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर बसेरा लेते हैं। उन्हींकी तरह संसारके प्राणी भी जब उनके आयुकर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्णरूपसे

---

१. ति व्यामो० –आ० । २. जनपरि –आ० । ३. अपरिज्ञानान् इति प्रतिभाति । ४. तेनान्यो ममाप्यनस्तेन्य इत्यन्यदेव –आ० । ५ न्यस्त्यत्व इ –अ० ।

[illegible] ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अल्लियंति ते य पुणो।
छंडित्ता जंति पुणो तह णीयसमागमा सव्वे ॥१७५३॥

'पहिया' पथिकाः। 'उवासये' उपाश्रये [illegible]। 'जह' यथा। 'तहिं तहिं' [illegible] नगरादौ। 'अल्लियंति' [illegible]। 'ते य' ते च [illegible]। 'पुणो' [illegible]। 'छंडित्ता' [illegible] 'जंति' याति स्वाभिमतं देशं। 'तह णीयसमागमा सव्वे' तथा बन्धुसमागमाः सर्वे च। [illegible] समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज।
कज्जं पडि संबंधं वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'भिण्णपयडिम्मि लोगे' नानास्वभावे लोके। 'को कस्स सभावदो पिओ होज्ज' कः कस्य स्वभावेन प्रियो भवेत्। समानशीलतायां हि सख्यं भवति। न च सर्वेऽपि समानशीलाः। कथं तर्हि [illegible] बान्धवाः। 'कज्जं पडि संबंधो' कार्यमेवोद्दिश्य सम्बन्धः नान्यथा कार्येऽसति सम्बन्धः। 'वालुयमुट्ठीव' वालुकामुष्टिरिव। 'जगमिणमो' लोकोऽयं। यथा वालुकानां भिन्नप्रकृतीनां द्रवद्रव्यमन्तरेण न स्वाभाविकः सम्बन्धो येन संगता मुष्टिमुपेयुः। उदकादिद्रव्योपनीतेन सङ्गतिस्तासां, तथा कार्योपनीतैव सङ्गतिः स्वजनानां ॥१७५४॥

गल जाते हैं, और वे पूर्व शरीरको छोड़ नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण करनेके योग्य देशमें, जिसे योनि कहते हैं, जाते हैं। वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोंमें माता-पिताका संकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवीर्यसे जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते हैं। वनमें पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके स्वजनवास सुलभ हैं। यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमें पथिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमें परस्परमें मिलते हैं। पीछे वे सब उस उपाश्रयको छोड़कर अपने-अपने देशको चले जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोंका समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०-टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमें कौन किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोंमें ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-बान्धव तो समान शीलवाले नहीं होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमें मिलते हैं। अन्यथा मुट्ठीमें अलग-अलग ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमें मिलते हैं ॥१७५४॥

---

१. अन्यत ए-आ०। २. स्वजातयाति —आ०।

तं च कार्यकृतं सम्बन्धं स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।
पोसेदि सुदो मादं गब्भे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

'माया पोसेदि सुदं' माता पोषयति सुतं । 'आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति' अयं ममाधारो भविष्यतीति । 'पोसेदि सुदो मादं' पोषयति सुतो मातरं । 'गब्भे धरिदो इमाएत्ति' गर्भे धारितोऽनयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयोः प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता चेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

'होऊण अरी वि' शत्रुरपि भूत्वा । 'पुणो' पुनः । 'मित्तो होदि' सुहृद्भवति । स एवारिः । कुतः ? 'उपकारकरणा' उपकारकरणेन । 'पुत्तोवि खणेण अरी जायदि' पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियायाः । यस्मादेवं ॥१७५६॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

'तम्हा' तस्मात् । 'ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे', नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजनः परजनो वा विद्यते । 'कज्ज पडि होंदि णीया व अरी व जन.' कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बन्धवः शत्रवश्च भवति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मूलोऽरिमित्रभावोप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ क्वचिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्धः ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको दृढ़ करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढ़ापेमें आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे हैं—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है। अपकार करनेसे पुत्र भी क्षणभरमें शत्रु हो जाता है। अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हे मारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये संसारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है। उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोके मित्र या शत्रु बनते है ॥१७५७॥

टी०—जीवोंमें न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है। उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नहीं है इसलिये उपकार मूलक मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नहीं है। अतः न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये। सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७५८॥

'जो जस्स वट्टदि हिदे' यो यस्य उपकारे वर्तते । 'पुरिसो' पुरुषः । 'सो तस्स बंधवो होदि' स तस्य बन्धुर्भवति । 'जो जस्स कुणदि अहिदं' यो यस्य करोत्यहितं । 'सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो' स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्यः ॥१७५८॥

शत्रुलक्षणं बन्धुषु दर्शयति—

णीया करंति विग्घं मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।
कारिंति य अइबहुगं असंजमं तिव्वदुक्खकरं ॥१७५९॥

'णीया करंति विग्घं' बान्धवाः कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मस्य, 'कीदृशः' ? मोक्खब्भुदयावहस्स' निरवशेषदुःखकारिकर्मापाये सातारिकमतिशयवत् सुखं च समावहतो रत्नत्रयस्य । 'कारिति य' कारयन्ति च । किं ? 'असंजमं' हिंसानृतस्तेयादिकं, 'अइबहुगं' अतीव महान्तं । 'तिव्वदुक्खकरं' दुःसहं नरकादिदुःखोत्थापनोद्यतं । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बन्धूनामेतेन । अन्येषां बान्धवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथितं भवति ॥१७५९॥

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यंते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेतसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ।
कारेंति य अतिबहुगं असंजमं तिव्वदुःखयरं ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है। और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है। यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओंमें शत्रुका लक्षण दिखलाते हैं—

गा०–टी०—बन्धुगण दुःख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और संसारका सातिशय दुःख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममें विघ्न करते हैं। और दुःसह नरकादिके दुःखोंको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि असंयम कराते हैं। अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्मकल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पोषणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेको प्रेरणा करते हैं। तो हितसाधनमें विघ्न करनेसे और अहितमें लगानेसे बन्धु शत्रु हैं, यह इससे दिखलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट हैं उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नही हैं, शत्रु हैं, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको लेते हैं। उन्हें उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते है तथा वे

मो बन्धुत्वं कथं प्रस्तुतायां अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

ग्रस्स पुणो साधू उज्जोवं संजणंति अदिधम्मे ।
तिव्वदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेंति ॥१७६१॥

मस्य । 'पुणो साधू' साधवः पुनः 'उज्जोवं सजणंति' उद्योतं सम्पादयन्ति । ग्रहणपालनलक्षणे यतिधर्मे, 'तव असंजमं परिहरावेंति' तथा असंयमं परिहारयन्ति । मर' तीव्राणां दुःखानामुत्पादकं ॥१७६१॥

नुपसंहरति—

। जीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदु ।
रमदोणंता जीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

यु । हिते प्रवर्तनात् अहिते निवर्तनात् । 'जीया पुरिसस्स' बान्धवाः पुरुषस्य । के ? 'साहू' हेदू' इन्द्रिया'तीन्द्रियसकलसुखहेतवः । 'संसारमदोणंता' संसारमपारमनेकदुःखसंकुल- । य णरस्स होंति अरी' शत्रवो भवन्ति मनुष्यस्य बान्धवाः । एतेन सूत्रेण अन्येषां यतीनां प्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशकारिणि च यतिजने अभिमतं सकलं सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं सम्पादयत्सु चतुर्गतिघटीयन्त्रे[5] दुस्तार- नादरो भवति ॥१७६२॥ अन्यत्वं ।

कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मायामोहिदमदी संसारमहाडवी तदो दीदि ।
मवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

दायी असंयम कराते हैं इसलिये भी वे साधु हैं ॥१७६०॥

नु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर दुःखदायी असंयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

नका उपसंहार करते हैं—

—अतः हितमें लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुगण बन्धु हैं। वे अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दुःखोंसे भरे अपार संसारसे पार उतारते द्वारा अपनेसे अन्य साधुगणोंका मित्ररूपसे और बन्धुगणोंका शत्रुरूपसे चिन्तन प्रेक्षा कहा है। ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले आदर होता है। और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और दुष्कर है उस चार गतिरूपी घटीयंत्रपर चढ़ाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता

। —आ० मु० । २. कथमत्र —आ० मु० । ३. असंजमं परिहरावेंति तिव्वदुक्खपर —आ० । मु० । ५. यन्त्रे दुःखभारे वा —आ० मु० । ६. आरोहत्सु —अ० मु० ।

र्यातिकायाः प्रत्येकं बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पाद्विशतिविधाः । द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञासंज्ञिविकल्पाः पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवं [1]वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुन परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृत । पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्न । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य एवं मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अयं तु विशेषः, एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तनाः समाप्ता भवन्ति इति । अनन्तवारमयं प्राप्तो जीवः ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं ।
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥१७६८॥

'अण्णं गेण्हदि देहं' अन्यच्छरीरं गृह्णाति । 'तं पुण मुत्तूण' तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति । 'घटीयंत्रमिव जीवो' घटीयन्त्रवज्जीव । यथा घटीयन्त्रं अन्यज्जलं गृह्णाति तत् त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते एवमय शरीराणि गृह्णन् मुञ्चंश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यन्ते तस्यात्मनः परिवर्तनं

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते हैं। तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद होते हैं।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। कोई जीव उस आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। पुन परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षों के जितने समय होते है उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ और मरा। पुन दस हजार वर्षकी आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरकमें उत्पन्न होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्चगतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा। नरकगतिमें कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूर्ण की। तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की। किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रैवेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं। ऐसे भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—टी०—घटीयन्त्रकी तरह जीव अन्य शरीरको छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है। उसे भी छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है। जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ भ्रमण करता है। द्रव्यशब्दसे विचित्र शरीर कहे है। आत्माके शरीरोंका

---

1. सर्वार्थसि० २।१० ।

'जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज' यत्र क्षेत्रे जातो मृतो वा न भवेज्जीवः। 'अणंतसो चेव' अनन्तवारान्। 'कालम्मि तीदम्मि इमो' अतीते कालेऽयं। 'ण सो पदेसो जगे अत्थि' नासौ प्रदेशो जगति विद्यते। अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनं—जघन्यनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः, क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः, स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिश्चतुरिति। एवं यावदङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं। उक्तं च—

सव्वम्हि लोयखित्ते कमसो तं णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ [बा० अणु० २६]॥१७७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥

'तक्कालतदाकालसमयेसु' उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः कालयोर्ये समयास्तेषु। 'जीवो अणंतसो चेव' जीवोऽनन्तवारान्। 'जादो मदो य सव्वेसु' जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु। 'इमो तीदम्मि कालम्मि' अयमतीते काले। इयमस्या गाथाया प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः। स एव पुनस्तृतीयाया-

---

अब क्षेत्रसंसारको कहते हैं—

गा०—जगत्‌में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत कालमें अनन्तवार जन्मा और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा। वही जीव पुनः उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस तरह अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाशमें जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ। पुनः एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

सर्व लोकक्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक अवगाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र संसारमें परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अतीत कालमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा। वही जीव पुनः दूसरी उत्सर्पिणीके

अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो दु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

'अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो दु' अध्यवसायस्थानान्तराणि जीवः परिणमत्ययं । 'णिच्चंपि' नित्यमपि, 'जहा सरडो णाणाविहे वण्णे' यथा गोधा नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एवं ससारः ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

'आगासम्मि वि पक्खी' आकाशे संचरन्तं परकीयपक्षिणोऽपि बाधन्ते । 'जले वि मच्छा' जलेऽपि मत्स्याः । 'थले वि थलचारी' भूमावपि भूमिचारिण । 'हिंसंति' बाधन्ते । 'एक्कमेक्कं' अन्योन्य । 'सव्वत्थ भयं खु संसारे' सर्वत्र भयं ससारे ॥१७७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अध्यवसाय स्थानोंको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है । उस जीवके उस स्थितिबन्धके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं । उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमें निमित्त असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है । फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असंख्यात भागवृद्धियुक्त होता है । इस प्रकार श्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुनः वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये । इस प्रकार तीसरे आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना । इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बांधता है । उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना । इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पूर्ववत् बांधता है । इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बांधता है । इन सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

संसारमें भय दर्शाते हैं—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोंको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं । जलमें मच्छ बाधा करते हैं । थलमें थलचारी बाधा करते हैं । इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेकी हिंसा करते हैं अतः संसारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

ससगो वाहपरद्धो विलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

'ससगो वाहपरद्धो' शशो व्याधेनोपद्रुतः, 'विलित्तिणाऊण अजगरस्य मुहं' बिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुखं । 'सरणत्ति मण्णमाणो' शरणमिति मन्यमानः । 'मच्चुस्स मुहं जह अदीदि' मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥१७७८॥

'तह अण्णाणी जीवा' तथा अज्ञानिनो जीवाः । 'परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं' अनुबाध्यमानाः क्षुदादिभिः व्याधैः । 'अदिगच्छंति' प्रविशन्ति । 'महादुहहेदुं' महतो दुःखस्य निमित्तं । 'संसारसप्पमुहं' संसारसर्पमुखं ॥१७७८॥

जावदियाइं सुहाइं होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।
ताइंपि बहुविधाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

'जावदियाइं' यावन्ति । 'सुहाणि होंति लोगम्मि' सुखानि भवन्ति लोके । 'सव्वजोणीसु' सर्वासु योनिषु । 'ताइंपि बहुविधाइं' तान्यपि बहुविधानि । 'अणंतखुत्तो इमो पत्तो' अनन्तवारमयं जीवः प्राप्तः ॥१७७९॥

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ।
तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

'दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिंवि' दुःखमपि अनन्तवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथंचित् । 'तह वि य अणंतखुत्तो' तथाप्यनन्तवारं 'सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि' सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभृच्चक्रिणां पञ्चानुत्तरविमानवासिनां लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे सताया जानेपर बिल समझकर अजगरके मुखमें प्रवेश करता है। वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोंके द्वारा पीड़ित होनेपर महान् दुःखके निमित्त संसाररूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तवार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तवार दुःखोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है। तथापि अनन्तवार इस जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती पाँच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवका सुख इस जीवने प्राप्त नहीं किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं। और चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नहीं होता है ॥१७८०॥

1. बहुवारानन्ता सुखादयोऽभ्यन्तरे. आ०मु० ।

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चित्तवचिसोदणित्तेहिं ।
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

'करणेहिं होदि विगलो' विकलेन्द्रियः भवति । 'बहुसो' बहुशः । 'चित्तवचिसोदणित्तेहिं' मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीनः । स्पर्शनेन्द्रियवैकल्यमसम्भवात् नानूक्तम् । 'घाणेण य' घ्राणेन च । जिब्भाए' जिह्वया । 'चेट्ठाबलविरियजोगेहिं' चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जच्चंधबहिरमूओ' जात्यन्धो, बधिरो, मूकः । 'छादो' क्षुधा पीडितः, 'तिसिओ' तृषाभिभूतः । 'वणे व एयाओ भमदि' भ्रमति यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंपि' चिरकालमपि । जीवो 'जम्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णट्ठसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्गः । उक्तं च—

स्वकृतदुरितैर्नष्टज्ञानास्तुसंचितकर्मभिः, करणविकलः [1]कर्मोद्धृतो भवार्णवपाततः ।
सुचिरमवशो दुःखार्तो [2]निमीलितलोचनो, भ्रमति कृपणो नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत् ।
बधिरविकलो वाग्घीनोऽन्धो यथाकुललोचनः, तृषितमलिनो नष्टोऽरण्यां चरेदसहायकः ।
असकृदसकृत् गृह्णन् मुञ्चंस्त्रसावरदेहता, भ्रमति सुचिरं जन्माटव्यां तथायमदेशकः ॥इति॥१७८२॥

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ।
भमदि अणंतं कालं दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥१७८३॥

'एगिंदियेसु पंचविधेसु वि' एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेष्वपि । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असंभव है अतः उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०-टी०—कभी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूँगा होता है और भूख तथा प्यास से पीड़ित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमें अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमें अकेला भ्रमण करता है। कहा भी है—अपने बुरे आचरणोंसे संचित किये कर्मोंके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोंसे प्रेरित हो संसाररूपी समुद्रमें गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आंख बन्द करके भ्रमण करता है। उसका कोई रक्षक नहीं होता। जैसे कोई बहरा, गूँगा अन्धा मूर्ख प्राणी प्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमें भटकता है। उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार त्रसस्थावर पर्यायको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमें भ्रमण करता है॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

---

1. कर्मोद्धृतभ —आ० । 2. क्षोभ्यं नि —मु० ।

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगहणम्मि ।
अंधो व दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥१७८८॥

'संसारकंतारे 'कम्माणुभावदुहिदो' असातवेदनीयादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःखः । 'एवं'मुक्तेन क्रमेण । 'संसारकंतारे
भमदि' संसारकान्तारे भ्रमति। कीदृशे ? 'मोहंधयारगहणम्मि' मोहान्धकारगहने । 'अंधो व दुग्गमग्गे' अंध इव
दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरेंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥१७८९॥

'दुक्खस्स पडिगरेंतो' दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । 'सुहमिच्छंतो य' इन्द्रियसुखमभिलषन् । 'इमो जीवो'
अयं जीवः । 'पाणवधादीदोसे' हिंसादिदोषान् । 'करेदि मोहेण संछण्णो' करोति मोहेन संछन्नः । एतदुक्तं
भवति—दुःखनिरवशेषदुःखापायस्योपायं न वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतूनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति ।
इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूल-
मिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ।
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

'तदो' 'दोसेहि तेहिं' प्राणिवधादिकैर्दोषैः । 'बहुगं कम्म बंधदि' महत्कर्म बध्नाति । 'णवं' प्रत्यग्रं । 'तदो'
पश्चात् । 'अध' कर्मबन्धानन्तरं । 'तेण पच्चदि' तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । 'पविसित्तु व' प्रविश्येव । किं ?
'अग्गिं' अग्निं । 'अग्गीदो' अग्नेः । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एवं पूर्वैः कर्मभिर्बाधितः पुनः
प्रत्यग्रकर्मानलेन दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन संसाररूपी वनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखसे बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है। आशय यह है कि दुःखसे बचनेका उपाय नहीं जानता। यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता। यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं। इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोंमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं। इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेसे जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है। कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है। इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमें जलता है ॥१७९०॥

---

१. भीदनरो विशेषदुःखापायस्यापायं—आ० मु०। निःशेषदुःखापायोपाय—मूलारा०।
२. ...यविरहमेन—आ०।

बंधंतो मुच्चंतो एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो ।
सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥१७९१॥

'बधंतो मुच्चंतो' बध्नन् मुञ्चन् । 'एव कम्मं पुणो पुणो जीवो' कर्म पुनः पुनर्जीवः दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । 'सुहकामो' सुखाभिलाषवान् । 'बहुदुक्खं' विचित्रदुःखं । 'संसारमणादियं भमदि' अनादिकं संसारं भ्रमति । संसारनिरूपणा ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिंडयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।
सव्वे वि इमो पत्तो संबंधे सव्वजीवेहिं ॥१७९२॥

'आहिंडगपुरिसस्स व' देशान्तरं भ्रमतः पुंस इव । 'इमस्स णीया तहिं तहिं होंति' अस्य बान्धवास्तत्र तत्र भवन्ति । 'सव्वेवि इमो पत्तो' सर्वानयं प्राप्तः । 'संबंधे' सम्बन्धान् । 'सव्वजीवेहिं' सर्वजीवैः सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं पुणमुवेदि ।
इय संसारे सव्वे परियट्टंते हु संबंधा ॥१७९३॥

'माया य होदि भज्जा' माता भार्या भवति । भार्या मातृतां पुनरुपैति । एवं संसारे सर्वे सम्बन्धाः परिवर्तन्ते इति गाथार्थः ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।
धणदेवस्स य एक्कम्मि भवे संसारवासम्मि ॥१७९४॥

'जणणी वसंततिलया' धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हे छोड़ देता है और कर्मोंका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोसे नवीन कर्मोंका वन्ध करता है। सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोंसे भरे अनादि संसारमें भ्रमण करता है ॥१७९१॥ संसार अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते हैं। यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं। तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाथामें जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वहीं-वहीं बन्धु-बान्धव होते है। इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये है ॥१७९२॥

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी होती है और पत्नी होकर पुनः माता बन जाती है। इस प्रकार संसारमें सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

गा०-टी०—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है। किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनों उसी भवमें धनदेवको पत्नी हुईं। कहा भी है—

मनर्थस्य तस्मिन्नेव भवे । भवान्तरेषु सकलाम्यपायाभावे किमस्ति वाच्यं ? उक्तं च—

> यद्येकदेहवहने लभतेऽपवादं दुःखं ततो भयनयुग्रकं च पापम् ।
> नानाशरीरवहनेषु कथं न दुःखं प्राप्नोति को न विषयार्जितपापकर्मा ॥
> कुर्वन्ति तन्मदगजोद्धतवेग. प्रहारो विद्युद्बलपाणिविसृष्टधारः ।
> दुर्वन्ति दु.खमधिकं विषया नराणां, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिदृष्टतत्त्वाः ॥

एवमय कष्टो लोकधर्मः ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायत्तणं पुणमुवेदि ।
इय संसारे परिवट्टंते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रार्जनात्, दासो राजतां पुनरुपैति उच्चैर्गोत्रकर्मण उदयात् । एवं संसारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी ।
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहिं ॥१७९६॥

'कुलरूवतेयभोगाधिगो वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपतो राजा सुभोगसंज्ञः गुथगृहे कीटो जातः स्वैः कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—

> ये सर्वसुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वर्द्धिदीप्तवपुषः शशिकान्तरूपाः ।
> भ्रष्टास्त एव पुनरन्यगत प्रणुन्ना दीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापैः ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादों और दुःखोंको पाता है और उस मनोवेदना और उग्र पापको बांधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दु.ख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दु.ख पाता है।

मदसे मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथसे छोड़ी गई तीक्ष्ण तलवार दु.ख नहीं देते। उससे भी अधिक दु.ख विषय देते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानी विषयोंको त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोकधर्म दु.खदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है। इस प्रकार संसारमें सब स्थान परिवर्तनशील हैं ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमें अधिक होते हुए भी अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर विष्टाघरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमें प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियोंसे दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमाकी तरह मनोहर था, वे अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापसे भ्रष्ट होकर दीन होते हैं ॥१७९६॥

---

१. [illegible] मु० । २. भ्यगतिप्रणु —आ० । —गति प्रपन्ना —मु० ।

आतपं मैरावर्तं शिरस्सु न्यस्तं विबेर्भिर्मुकुटानि भान्ति ।
विभूषितास्ताभरणैरनर्घैर्हारार्धहारांगदकुण्डलाद्यैः ॥
ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रदेशान् विद्युत्प्रियुक्तान् घनराम्बुदांश्च ।
रत्नार्चितान् हेमनगानिवोच्च विशेषतोऽप्यधिकं विभान्ति ॥
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो दिव्यसौम्यवपुषो दिशो दश ।
भासयन्ति विमलाम्बरस्थितादित्यसौम्यवपुषः समानुवम् ॥
दूरमुन्नतिमन्ति कायवान् गौरवात् गिरिसमा भवन्ति च ।
सूक्ष्मभावनिविशन्ति मेदिनीं वर्धिताश्च महतोऽपि रुन्धते ॥
काष्ठवह्निसलिलानिलं मही संप्रविश्य च तनुः प्राणिनाम् ।
निर्विशेषगुणकाः सदृशानि ते भवन्ति भुवि ते गुणान्वयः ॥
पावकाचलभुवं च्यावनोदधारांश्च सहसा निवस्य ते ।
स्थानमीप्सितमथ श्रमाद्विना यान्ति वायुरिव [1]वातसमीरवत् ॥
उत्क्षिपेयुरवनीं [5]महाबलात् पातयेयुरपि मन्दराकरैः ।
मन्दराचलशिखरं धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यदभीप्सितं ॥
ईशितुं सुरनृणामयत्नतः वश्यमानयमनाम्मृगानपि ।
रूपमप्रयत्नतो सहस्रशः [6]स्वयमुपनयतो [7]सहस्रशः ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते हैं॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानों ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड़ कर सिरों पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं। उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रसे सुशोभित आकाशसे, बिजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंसे भी अधिक सुशोभित होते हैं। दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हैं। वे लम्बाईमें सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं। सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ोंबड़ोंको रोकते हैं। अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके धारी होते हैं। वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं। ऐसी उनमें शक्ति होती है॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना बेरोकटोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं। वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं। अपने हाथोंसे मन्दराचलको गिरा सकते हैं। वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहें तो सुमेरुकी चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं। मृगोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं। अर्थात् ईशित्व और वशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

१. वातस्यपि –आ० । २. बलाः कवचिद् –आ० । ३. ति विमलान म–आ० । ४. मा सारेज–आ० ।
५. महाबलात् –आ० मु० । ६. स्वमुम –आ० । ७. सह स्ववाः –आ०

रोगजराविकलत्वविहीनास्तत्र पुनश्च भवन्मनुजानाम् ।
तान्यहितं प्रभवेच्च पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥
अन्यवशास्ववशा विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्तं ।
संप्रतिगन्तव उपनयं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
मानुषलोकजन्मवाप्य विमाने भुक्तसुखो अमरोऽपि यान्ति ।
मर्त्यविचिन्तयतां बुधमानां केन सुरेषु भवेद्बहुमानः ॥
तेऽवधिना हि धिया बहुशस्तं दूरगतान्यपि जानत एव ।
तेन भयान्यनुभूय पुरस्तादनुभवे [1]भयदुःखमपश्चात् ॥
यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतरं न भयं स उपैति ।
ज्ञातविपत्तिस्तस्य वधस्तु नरः प्राक् प्राप्य भयं समुपैति हि पश्चात् ॥
अतो न सौख्यं तदिहास्ति किंचन विमृश्यमान मनसा भवार्णवे ।
सुखे प्रसक्तो विपुले [2]पुमानयं भजेत दुःखेन विनाणुनापि यत् ॥
यथाल्पकेशोपहतेऽपि भोजने न तं नरो रोचयते कुलोचितः ।
तथाल्पदो[3]षेऽप्यसुखे सुखं सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥
[4]प्रदीपमानेऽम्बुनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तदंबु दूषयेत् ।
तथा लवांशोऽप्यसुखस्य सन्मुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषणं ॥

किन्तु मनुष्यगतिमें तो गर्भ वास लेना होता है। हां, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है। यहां देवगतिमें तो रोग, बुढ़ापा आदि नहीं है। किन्तु मनुष्योंमें तो ये सब हैं। यहांसे च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे। ऐसा देख वे देव दुःखी होते हैं। जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमें जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिसे मनुष्यगतिमें जानेका बहुत शोक करते हैं। स्वर्गके विमानोंमें देवोंका सुख प्राप्त करके भी जीवोंको पुनः इसी मनुष्यलोकमें जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोंको देवोंके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है। वे देव अवधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोंको भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं।

जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहलेसे नहीं होता। किन्तु जिस मनुष्यको पहलेसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्यगतिमें तो मृत्युका बोध पहलेसे नहीं होता। किन्तु देवगतिमें तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अतः मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अतः विचार करनेपर इस संसाररूपी समुद्रमें कुछ भी सुख नहीं है। बहुत सुखमें आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दुःखके बिना सुख नहीं भोग सकता। अर्थात् संसारके सुखमें दुःखका मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमें जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता उसी प्रकार ज्ञानीको बहुतसे सुखमें थोड़ा सा भी दुःख मिला हो तो वह सुख नहीं रुचता। जैसे पीनेके पानीमें मूत्रकी एक बूंद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१. भयमत्यय पश्चात् –आ० । २. पुमानय –आ० मु० । ३. दोषोऽ–अ० मु० । ४. प्रदीपमाने –अ० आ० ।

षेय:। 'सकम्मेहिं' आत्मीयैः कर्मभिः। 'जादो' उत्पन्नः। क्व 'णियभारियागब्भे' निजभार्यागर्भे। 'जादिंभरो जादो' जातिस्मरश्च जात ॥१८००॥

होऊण बंभणो सोत्तिओ सु पाव करित्तु माणेण।
सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥

'होऊण बंभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा। 'माणेण' जातिमदेन। गुणिजननिन्दावमानाभ्यां 'करित्तु' पापं कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य। 'सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होदि परलोए' श्वा सूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद्दं अड्ढत्तं णिंदं च थुदिं च वसणमब्भुदयं।
पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च ॥१८०२॥

'दारिद्द' दारिद्र्य। 'बहुसो जीवो पावदि' बहुशः जीवः प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात्। 'अड्ढत्त' आढ्यता पूर्ववदेव सम्बन्धः। 'पावदि बहुसो इमो' इत्यनेन। लाभान्तरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यन्ति ततः आढ्यता। 'णिंदा' दयाकश्चण्डालः कुण काणो दुर्भगो मूर्खः कृपण इत्यादिका। यशस्कीर्तेरुदयात्। 'एवं वसणं' दुःख असद्वेद्योदयात्। 'थुदिं च' स्तुति च कुलीनो रूपवान् वाग्मी आढ्यः प्राज्ञ इत्यादिका। 'अब्भुदयं' देवमनुजभवजं सुखं सद्वेद्योदयात्। 'पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च' पुरुषत्वं च स्त्रीत्वं च नपुंसकत्वं च बहुशः प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि।
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारी अपि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जनो' पुण्यरहितो जनः। 'कारीवि' कुर्व-

---

अपने सेवक वकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भसे उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—वृहत्कथाकोशमें १५२वें नम्बर पर इसकी कथा है।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोंकी निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका वन्ध करता है और मरकर परलोकमें कुत्ता, सूकर या चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०-टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है। लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है। इस प्रकार अनेक बार धनीसे दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है। अयशकीर्तिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख, कंजूस आदि निन्दाका पात्र होता है। यश.कीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान, धनी, पण्डित इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है। असातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाता है और सातावेदनीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है। इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष और नपुंसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमें दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है। और पुण्यवान अनाचार करके भी लोगोंके सन्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता ॥१८०३॥

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ।
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

'जो अभिलासो विसएसु' यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शादिषु । 'तेण विषयाभिलावेण ण य पावदे सुहं पुरिसो' प्राप्नोति नैव सुखं पुरुषः । 'पावदि य कम्मबंधं' प्राप्नोति च कर्मबन्धं, 'पुरिसो विसयाभिलासेण' पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबन्धकारणं तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूपं कथितं ॥१८२३॥

विषयाभिलाषस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ।
णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

'कोई डहिज्ज जह चंदणं' कश्चिद्यथा दहेच्चन्दनं । 'बहुमोल्लं' महामूल्यं । 'दारुगं च' अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिकं स्वल्पं समुद्दिश्य । 'तहा णासेदि मणुस्सभवं' तथा नाशयति मानुषभवं अतीन्द्रियानन्तसुखकारणं । 'पुरिसो तह विसयलोभेण' अतितुच्छविषयगार्ध्येन ॥१८२४॥ उक्तं च—

> विषया अनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिश्चापि समन्विता रसैः ।
> विषमंभुर्मारुहतान्नवत् परिभुक्ताः परिणामदारुणाः ॥
> विषयसुखरतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा ।
> विषयसुखविहीनजातिजातो विषयसुखं लभते न ना विपुण्यः ॥

द्वारा नाश करता है उन मायाओंको, इन्द्रियोंको, संज्ञामदोंको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

गा०—विषयोंकी जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नहीं पाता। विषयोंकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोंमें निरन्तर प्रवर्तमान विषयोंकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है। उससे सुख तो नहीं होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है। अतः विषयोंकी अभिलाषाको आस्रवरूप कहा है ॥१८२३॥

गा०-टी०—अन्य प्रकारसे विषयोंकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिए बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ीको जला देता है। वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोंके लोभसे उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—[illegible] ॥१८२४॥

छड्डिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२५॥

'छड्डिय रयणाणि जहा' रत्नानि त्यक्त्वा यथा, 'रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि' रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । 'तहा माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि, 'छड्डिय धम्म' धर्म विहाय । 'भोगे भिलसदि' भोगान्वाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकसाररत्नास्पदं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लब्धान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धनं सुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जडः । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥१८२५॥

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विसं जह पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२६॥

'गंतूण णंदणवणं' गत्वा नन्दनवनं । 'अमयं छड्डिय' अमृतं त्यक्त्वा । 'विसं जहा पियइ' विषं यथा पिबति कश्चित् । 'माणुसभवे वि छड्डिय' मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्मं' धर्मं । 'भोगेभिलसदि तहा' भोगानाभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ।
भुंजंतो दुब्भत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥

'पावपओगा' पापं प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगा. । 'मणवचिकाया' मनोवाक्कायाः, 'कम्मासवं पकुव्वंति' कर्मत्वपर्यायागमं पुद्गलानां कुर्वन्ति । 'भुंजंतो दुब्भत्तं' भुञ्जमानो दुराहारं । 'वणंमि जह आसवं कुणदि' व्रणे यथा आस्रवं स्रुतिं पूतीनां करोति ॥१८२७॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमें धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोंको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है। वैसे ही मनुष्यभवको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणमाते हैं। जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घावमें पीब पैदा करता है। अर्थात् जैसे अपथ्य सेवन करनेसे घावमें पीब आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥१८२७॥

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ।
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

कोई डहिज्ज जह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ।
णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२५॥

'छड्डिय रयणाणि जहा' रत्नानि त्यक्त्वा यथा, 'रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि' रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । 'तहा माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि, 'छड्डिय धम्मं' धर्मं विहाय । 'भोगे भिलसदि' भोगानभिवाञ्छति । एवमुक्तं भवति—अनेकरत्नाकरसारद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लभ्यान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धनं सुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जडः । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥१८२५॥

गंतूण णंदणवणं अमयं छड्डिय विसं जह पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२६॥

'गंतूण णंदणवणं' गत्वा नन्दनवनं । 'अमयं छड्डिय' अमृतं त्यक्त्वा । 'विस जहा पियइ' विषं यथा पिबति कश्चित् । 'माणुसभवे वि छड्डिय' मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्मं' धर्मं । 'भोगेभिलसदि तहा' भोगानभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ।
भुंजंतो दुब्भत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥

'पावपओगा' पापं प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः । 'मणवचिकाया' मनोवाक्कायाः, 'कम्मासवं पकुव्वंति' कर्मास्रवपर्यायापन्न पुद्गलानां कुर्वन्ति । 'भुंजंतो दुब्भत्तं' भुञ्जमानो दुराहारं । 'वणम्मि जह आसवं कुणदि' व्रणे यथा आस्रवं मुक्ति पूतीनां करोति ॥१८२७॥

गा०–टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमें धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोंको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है। वैसे ही मनुष्यभवको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणमाते हैं। जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घावमें पीव पैदा करता है। अर्थात् जैसे अपथ्य सेवन करनेसे घावमें पीव आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥१८२७॥

मिश्रानुकम्पोच्यते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः सतापव राग्यपरता ...
देशविरतिं, अनर्थदण्डविरतिं चोपगतास्तीव्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणाः पापात्परिभीतचित्ताः, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पेत्युच्यते। जीवामि जीवेषु दयां च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमानाः जिनसूत्राद्बाह्या येऽन्यपाखण्डरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तया सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति।

देशप्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषोपहतोऽन्यधर्मः।
इत्येषु मिश्रो भवतीति धर्मो मिश्रानुकम्पामवगच्छे'ज्जन्तुः॥
सद्दृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः।
यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा॥

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहतान् विलुप्यमानांश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरेनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोकैः परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माननेकान् कुन्थुपिपीलिकाप्रभृति प्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभिः संमृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, पुत्रकलत्रादिभिर-

होता है। पूर्व ज्ञानियोंने बन्धको तीन प्रकारसे कहा है। स्वयं करनेसे, दूसरोंसे करानेसे और दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे। अतः महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट करनेसे महान् पुण्यास्रव होता है।

अब मिश्रानुकम्पा कहते है। जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त है, सन्तोष और वैराग्यमें तत्पर है, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये हुए है, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोंका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमें सर्व सावद्यका त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोंमें समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन संयमासंयमियोंमें जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है। मैं जिलाता हूं ऐसा मान जो जीवोंपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते। ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है। उससे सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं। कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमें प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता। तथा मिथ्यात्व दोषसे सदोष अन्य धर्मवालोंमें अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभावसे ही मार्दव भावसे युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिनके अवयव कट गये हैं, जो बाधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांसके लिये दूसरे लोगोंके द्वारा मारा जाता अथवा उन्हें परस्परमें ही एक दूसरेकी हिंसा करते और एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुंथु चींटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वा

१. 'पासवगच्छलज अ०।

प्राप्तकाल सहसा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ २ ॥ [illegible]
विचिन्त्य [illegible]मनुकम्पा ।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशभागी वृथैव भूत ।
धर्मे शुभे भूतहिते मनश्चिन्त्येवमादौरपि बोधनैः ॥

कृतक्रियमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यास्रवं सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुंसं जननी शुभेव ।
एतानुकम्पाप्रभवाद्धि पुण्यान्नाके मृता अप्युपयान्तिभीयुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकारः यतिगृहिसंयमभेदेन । यते शुद्धप्रयोग इत्थंभूतः—

जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं चौर्यं न कुर्यान्न भजेय भोगान् ।
धनं न सेवेय न च क्षपासु भुञ्जीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे ॥१॥
रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।
युञ्जेय नारम्भपरिग्रहैश्च दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूयः ॥२॥
यथा न भात्युज्ज्वलमौलिमालो भिक्षां चरन्कार्मुकबाणपाणिः ।
तथा न भाया यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषानपहाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीड़ित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरनेकी नहीं है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए, अपने अंगोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत बनो। प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममें मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये अथवा भविष्यमें किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके विना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनों प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्रके लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमें देव होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते है—उसके दो भेद है-एक यति सम्बन्धी शुद्धसंप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मै जीवोंका घात नही करूँगा। झूठ नहीं बोलूंगा। चोरी नही करूँगा। भोगोंको नही भोगूँगा। धनका सेवन नहीं करूँगा। शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमें भोजन नही करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नही रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मागे तो शोभा नही देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको वहन करूँ तो शोभा नहीं देता। महान्

१. यं वा प्रजा प्रसत्तापकरं नि —अ०।

लिङ्गं गृहीत्वा महतामृषीणां, अङ्गं च विप्रत्यरिकर्महीनम् ।
भङ्गं व्रतानामविचिन्त्य कष्टं सङ्गं कथं कामगुणेषु कुर्याम् ॥४॥
चर्यामनार्याचरितामधेर्यां धैर्येण हीनः कृपणत्वमेत्य ।
कथं वृथामुण्डशिरश्चरेयं लिङ्गीभवन्नङ्गविकारयुक्तः ॥५॥
इत्येवमादिः शुभकर्मचिन्ता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु ।
चैत्येषु संघे जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्गुणरागिता च ॥

विनीतता संयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जवः, संतोषः, सञ्ज्ञाशल्यगौरवविजयः, उपसर्ग-परीषहजयः, सम्यग्दर्शनं, तत्त्वज्ञानं, सरागसंयमं, दशविधधर्मध्यानं, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेशः निःशंकित्वा-दिगुणाष्टकं, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चसमितयः, तिस्रो गुप्तय इत्येवमाद्याः शुद्धप्रयोगाः । गृहिणां शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतभङ्गोऽनिष्टः, अभीक्ष्णं यतिसंप्रयोगः अन्नादिदानं श्रद्धादिविधिपुरस्सरं श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वगित सक्तिविगर्हणं, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलम्भात्मनसोऽतितुष्टिः, भक्त्या पञ्चगुरुस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषां च स्थिरीकरणमुपबृंहणं, वात्सल्यं, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरणं, जिनेन्द्रशास्त्राभिगमः, जिनशासनप्रभावना इत्यादिकः । 'तव्विवरीद' अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्यां विपरीतः परिणामः । 'आसवदारं' आस्रवद्वारं, 'पापस्स कम्मस्स' अशुभस्य कर्मणः । आस्रवं । ॥१८२८॥

ऋषियोंका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भंगका विचार न करते हुए काम सेवन आदिका ससर्ग मैं कैसे कर सकता हूं । मैं धैर्य खो, दीन बनकर अनार्योंके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूं । शरीरमें विकार युक्त होकर घूमने पर साधु होकर सिर मुड़ाना व्यर्थ है । इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासनमें भक्ति, वैराग्य, गुणोंमें अनुराग, विनययुक्त प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादीपना, परिणामोंमें कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि संज्ञा मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीषहको जीतना, सम्य-ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश, निःशंकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग है ।

अब गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा, एक क्षणके लिये भी व्रतभंगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोंको दान देना, श्रद्धा आदि विधि-पूर्वक अन्न आदि देना, भोगोंको भोगकर भी थकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिकी निन्दा करना, सदा घर छोड़नेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठीका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोंको धर्ममें स्थिर करना, धर्मका बढ़ाना, साधर्मीवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंका उपकार करना, जिन शास्त्रोंका अभ्यास करना, जिनशासनकी प्रभावना करना आदि श्रावकोंका शुद्ध प्रयोग है । अनुकम्पा और शुद्ध प्रयोगसे विपरीत परिणाम अशुभ कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

---

१. तद्विवि –अ० मु० ।

'इंदियदुद्दतस्सा' इन्द्रियदुर्दान्ताश्वा । 'णिग्घिप्पंति' निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते । केन ? 'दमणाणखलिणेहिं' दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तैः । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानी-हेन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषां चास्रवाणां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-प्रवृत्तेः । 'उप्पथगामी' उन्मार्गयायिनः । 'जह तुरगा णिग्घिप्पंति' यथाश्वा निगृह्यन्ते । 'खलिणेहिं' खरैः खलिनैः ॥१८३१॥

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ।
विज्जामंतोसघहीणेण व आसीविसा सप्पा ॥१८३२॥

'अणिहुदमणसा' ज्ञानेन अनिभृतचेतसा । 'इंदियसप्पाइं' इन्द्रियसर्पाः । 'णिगिण्हेदुं' निग्रहीतुं । 'ण तीरंति' न शक्यन्ते । 'विज्जामंतोसहीहीणेण व' विद्यया मन्त्रेण औषधेन वा हीनेन, 'आसीविसा सप्पा' आशीविषाः सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसंवरं कथयत्युत्तरगाथा—

पावपओगासवदारणिरोधो अप्पमादफलिगेण ।
कीरइ फलिगेण जहा णावाए जलासवणिरोधो ॥१८३३॥

'पावपयोगासवदारणिरोधो' अशुभपरिणामास्रवद्वारनिरोधः । विकथादयः पञ्चदशप्रमादपरिणामाः 'पावपयोगा' इत्युच्यन्ते । तेषां निरोधः 'अप्पमादफलगेण' अप्रमादफलकेन । केन फलकेन कः [1]प्रमाद उच्यते सत्यासत्यमृषाभाषा विकथा निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानं एकाग्रतेति चैवं एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूताः ।

मिथ्यात्व और कषायके संवरका कथन करके इन्द्रिय संवर कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे कुमार्गमें जानेवाले दुष्ट घोड़ोंको कठोर लगामके द्वारा वशमें किया जाता है। वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोंको वशमें किया जाता है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे शब्द आदि विषयोंमें प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है। उनसे होनेवाले आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है क्योंकि एक आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है वह सर्पोंको वशमें नहीं कर सकता। उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पों को वशमें नहीं कर सकता॥१८३२॥

आगे प्रमादके संवरको कहते हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये से नावमें जलका आना रोका जाता है। वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेसे अशुभ परिणामोंरूपी आस्रव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेसे किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप वचन विकथा नामक प्रमादको रोकते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं। इनमें लगे रहनेसे खोटी कथाका अवसर ही नहीं मिलता। क्षमा, मार्दव, आर्जव

---

१. दो रुच्यत इत्याह —आ० मु०।

क्षमामार्दवार्जवसंतोषाः, कषायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूताः। ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविविक्तदेशाव-स्थानं ज्ञानेन मनःप्रणिधानं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धावनादरश्चेति एते इन्द्रिय-प्रमादप्रतिपक्षाः। तथा चोक्तं—

> वराङ्गनाङ्गानि च रागचोदितो यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति।
> तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितः ॥१॥
> निरीक्ष्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुषः स्वचक्षुषः।
> सुगीतवादित्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युवतीरितानपि ॥२॥
> न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति।
> स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥३॥
> निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च।
> तुरुष्ककालागुरुकुष्ठकुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
> शुभं न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति।
> तथैव गन्धानशुभानपीह यो न नेच्छति घ्रातुमसूनतद्विषान् ॥५॥
> निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिन्नरोत्तमः।
> न यो महामृष्टविशिष्टभोजनप्रियापलेह्यपि मनोहरान् रसान् ॥६॥
> निषेवितुं रागवशेन काङ्क्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति।
> रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥७॥
> निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च।

कषायनामक प्रमादके विरोधी हैं। ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषसे उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी हैं। कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता। तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता। जो यदृच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है। अच्छे गीत, और वादित्रोंके मनोहर स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता। अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है। लोबान, काला अगर, कुष्ठ, कुंकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धको आदरभावसे भी नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता। और अचानक दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है। जो अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन

१. [illegible] मनोहरान् —आ०।

मनोज्ञशय्यासनकान्तयोषितो, शुभांश्च यः स्पर्शविशेषान् मनोहरान् ॥८॥
न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
प्रमर्दनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमञ्जनानि च ॥९॥
शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विवृद्धवैराग्ययुतो महायतिः ।
हिमोष्णभूशैलशिलातृणादिजानशोभनान् स्पर्शविशेषांश्च सर्वदा ॥१०॥
न नेच्छति द्वेष्टि न वाप्युपागतान् स्वर्गेन्द्रियस्यैव भजेद्विजिष्णुतां ।
रणे रिपूणामिव निर्भयो जयेत् यथेन्द्रियाणां जयमास्थितो यतिरिति ॥११॥

निद्रायाः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदर्यं, रसपरित्यागः, संसाराद्भीतिर्निद्रादोषचिन्ता रत्नत्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते—बन्धुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थानेकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, शोपायेक्षणमित्यादिक । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रववंता निरुध्यते । 'कोरदि फलगेण जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'णावाए जलासवणिरोधो' नाव जलासवनिरोधः ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाइ हि गुत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ[3] सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाहिंगुत्तं' गुप्तिपरिखाभिर्गुप्तं, संयमनगरं कर्मरिपुसेना न भंक्तुं शक्नोति । परिखादिभिर्गुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्तेः संवरताख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नहीं करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना इन्द्रियका जेता होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ स्पर्शवाली वस्तुओंको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें आनेपर उनसे राग नहीं करता । तथा जो बढ़े हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय स्पर्शोंको सेवन न करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन इन्द्रियका जीतनेवाला होता है । जैसे युद्धमें निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उसी प्रकार वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, संसारसे भय, निद्राके दोषोंका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोका स्मरण करके शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—बन्धुता अस्थिर है ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना होती है । धर्म साधनमें विघ्न होता है । इत्यादि दोषोंका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इस प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आस्रवका संवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती । वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त संयमरूपी नगरको नष्ट नहीं कर सकती ॥१८३४॥

---

१. योषितः शुभाश्च —आ० । २. मार्जनानि अ० मु० । ३. घंसेदि—मूलारा० ।

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि ।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छिवो ॥१८३५॥

'समिविदिढनावमारुहिय' समितिदृढां नावमारुह्य । 'अप्पमत्तो' अप्रमत्तः सन् षड्जीवनिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्टः । तरति भवसमुद्रम् ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।
दोसा धंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तू ॥१८३६॥

'दारेव दारवालो' द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वानां स्मृतिर्यस्य तं दोषा न अभिभवन्ति पुरं सुगुप्तं शत्रव इव ॥१८३६॥

जो दु सदिविप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ।
अंधलगो व चरंतो अरीणमविदिज्जओ चेव ॥१८३७॥

'जो दु सदिविप्पहूणो' यः स्मृतिहीनः । 'सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ' असौ दोषरिपुभिर्ग्राह्यो भवति । अरीणां मध्ये असहायोऽन्ध मनुष्यो यथा ॥१८३७॥

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहचमुक्करे उदीरंतो ।
णेव सदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

'अमुयंतेण' अमुञ्चता । 'सम्मत्त' रत्नत्रयं । 'परीसहसमोसरे' परीषहनिकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृतिर्मोक्तव्या । अयाराधना कथिता । संवर. । ॥१८३८॥

इसमें गुप्तिको संवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ़ नावपर आरूढ़ होकर छह कायके जीवोंके घातमें होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोंसे अछूता रहकर संसार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इसमें समितिको संवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नहीं कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खड़े द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमें वस्तु तत्त्वोंकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओंके मध्यमें असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओंके द्वारा पकड़ा जाता है। वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वोंका सतत स्मरण नहीं रहता, वह दोषरूपी शत्रुओंसे पकड़ा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीषहोंके समूहमें पीड़ित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोड़ते हुए तत्त्वोंका स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये। सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये। इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

संवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. अप्पमत्तो—अ० आ०। २. अमुयंतेण आ०।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इय सुव्वत्थवि संवरसंवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ।
कुव्वंति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥१८३९॥

'इय' एवं । 'सव्वत्थवि' उक्तैः संवरप्रकारैः । 'संवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी' संवृतकर्मास्रवो भूत्वा
मुनिः करोति विविधं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ।
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥१८४०॥

'तवसा विणा' तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव हीयते उपभोग-
मन्तरेण तथा । तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरार्थं । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

'पुव्वकदकम्मसडणं' पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कन्धावयवानामवयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा
चोक्तं 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति' । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम
गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मस्वपर्यायविगमः पुद्गलानां ।
सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता दत्तफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाक-
जाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार संवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आस्रव रोककर आगममें कहे
अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना
कर्मों के संवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें
बद्ध कर्मोंके क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

गा०-टी०—पूर्वमें बांधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग
होना निर्जरा है । कहा भी है—'कर्मोंके एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद
हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके
द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा
है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल
दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मोंका विपाक काल नहीं आया है उन्हें
तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल
चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे
द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

'कम्मस्स ण हु हवेज्ज परिमोक्खो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् मोक्षो भवति इति। ततः फलं प्रदायापयाति। एतेन विपाकनिर्जरोक्ता 'होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो' भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः। 'तवग्गिणा डज्झमाणस्स' तपोऽग्निना दह्यमानस्य। एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्तं ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥१८४५॥

'डहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महान्तमपि तृणराशिं तथा तपोऽग्निः सुमहदपि कर्मतृणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपसः कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्मं पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण।
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥१८४६॥

'कम्मं पि परिणमिज्जदि' 'कर्माण्यपि अभावं नीयन्ते, केन? 'सुतवेण' ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। 'सिणेहपरिसोसगेण' कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। 'तो' पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकालं। 'कम्म परिसडदि' कर्म परितोऽपयाति, 'सिणेहमुक्कं' स्नेहमुक्तं धूलीव। दृश्यते हि स्नेहाद्बन्धमुपागतानां तत्क्षतेः परस्परतो वियोगः यथा जलेनैव पिण्डतामागताना सिकतानां शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता। अतः कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्हीं कर्मोंकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं। किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मोंका भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है। इससे जो मत ऐसा मानते हैं कि किया हुआ कर्म विना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मोंके विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है। अतः उससे कर्मोंका अभाव होता है। क्योंकि कर्मोंमें रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं। देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके संयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

---

१. कर्मापि सुतवेण शोभनेन तपसाऽन्यथाभावं नीयन्ते। केन? ज्ञान आ०।

'कम्मस्स ण हु हुवेज्ज परिमोक्खो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् मोक्षो भवति इति। अतः फलं प्रदायापगच्छति। एतेन विपाकनिर्जरोक्ता 'होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो' भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः। 'तवग्गिणा डज्झमाणस्स' तपोऽग्निना दह्यमानस्य। एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्तं ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥१८४५॥

'डहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महान्तमपि तृणराशिं तथा तपोग्निः सुमहदपि कर्मतृणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपसः कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्मं पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण।
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥१८४६॥

'कम्मं पि परिणमिज्जदि' कर्माण्यपि अभावं नीयन्ते, केन ? 'सुतवेण' ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। 'सिणेहपरिसोसएण' कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। 'तो' पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाले। 'कम्म परिसडदि' कर्म परिगलत्यात्मनः, 'सिणेहमुक्कं' स्नेहमुक्तं धूलीव। दृश्यते हि स्नेहाद्बन्धमुपगतानां वस्तूनां परस्परतो वियोगः यथा जलेनैव पिण्डतागतानां सिकतानां शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता। अत: कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्हीं कर्मोंकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं। किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मोंका भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है। इससे जो मत ऐसा मानते हैं कि किया हुआ कर्म बिना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपमें कर्मोंके विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है। अत: उससे कर्मोंका अभाव होता है। क्योंकि कर्मोंमें रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं। देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके संयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

---

१. कर्मापि सुतवेण शोभनेन तपसाऽन्यथाभावं नीयन्ते। केण ? ज्ञान आ०।

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गि धंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

'धादुगदं' यथा सुवर्णपाषाणगतं कनकं महताग्निना दह्यमानं शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीवः कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमानः शुध्यति ॥१८४७॥

यद्येवं तप एवानुष्ठातव्यं किं संवरेणेति शङ्का निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥१८४८॥

'तवसा चेव ण मोक्खो' तपसैव न सर्वकर्मापायो भवति, संवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहिं ॥१८४९॥

'एवं पिणद्धसंवरवम्मो' एवं पिनद्धसंवरकवचः, सम्यक्त्ववाहनारूढः, श्रुतज्ञानचापधरः, ध्यानादितपोमयशरैः ॥१८४९॥

संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥१८५०॥

'संजमरणभूमीए' संयमयुद्धाङ्गणे कर्मारिचमूं सर्वामभिभूय प्राप्नोति संयतयोधः अनुपमां मोक्षराज्यश्रियं । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निसे फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है। उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुसे घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शंका करता है कि यदि तपसे जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, संवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें संवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मोंका विनाश नहीं कहा है। क्योंकि यदि तालाबमें जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपसे सुखाया नहीं जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अतः जिसने संवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिए हुए है वह संयमरूपी योद्धा संयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय बाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

---

१. [illegible]—अ० आ० ।

धर्मानुप्रेक्षामायोच्यते—

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरम्पराया भाजनभूतः। स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, तं तादृशमुदारं सकलसुखसम्पादनक्षमं महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥१८५२॥

'धम्मेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति। विश्वसनीयः प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणां धर्मः। उक्तं च—दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति, मनसो निर्वृत्तिं च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कल्लाणाइं[1] माणुस्स-देवलोगे य।
आवहदि ताणि सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइं कल्लाणाइं' यावन्ति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकर्षति धर्मो मोक्षसुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं।
पडिवण्णा दिढधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः। जिनदृष्टं धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढधृतिका, निराकांक्षाः ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है। अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है। मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। कहा भी है—धर्मकी श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है। तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और सब दुःखोंका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ़ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्यशाली हैं ॥१८५४॥

[1] ई सग्गे य मणुअलोगे य —मु०।

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥१८५५॥

'विसयाडवीए' विषयाटव्यां उन्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियाश्वैर्बलान्नीताः सन्तः ये च जिनदृष्ट-निर्वृत्तिमार्गं गच्छन्ति ते धन्या इन्द्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।
धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

'रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि' रागद्वेषाभ्यां सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः ।
आरोग्यमाज्ञेप्सितसप्रयोगो द्वेष्यवियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥
स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ताः ।
धर्मेण शक्या जगतीह लब्धुं, हिताय तं कर्तुमतोऽर्हसि त्वं' ॥ [॥१८५६॥]

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।
संसारदुक्खकारयकम्मागमदारसंरोधं ॥१८५७॥

'सहलं माणुसजम्मं' तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्यं । कीदृशं ? संसारदुःख-संपादनोद्यतकर्मागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥१८५७॥

जह जह णिव्वेदसमं वेरग्गदयादमा पवड्ढंति ।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमें इन्द्रियरूपी घोड़ोंके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकाल कुमार्गमें विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोड़ेसे उतरकर जिन भगवान्के द्वारा कहे मोक्षमार्गमें चलने लगते हैं वे धन्य हैं ॥१८५५॥

गा०-टी०—जो राग और द्वेषपूर्वक संसारके भोगोंमें फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममें उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है। कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या, सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्में प्रशस्त भाव कहे हैं। इस जगत्में उन्हें धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है। अतः तुम अपने हितके लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—संसारके दुःखोंको करनेमें समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है। यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इसमें यह प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमें वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्यं दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तौति—

सम्मत्तदंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं ।
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥१८५९॥

'सम्मद्दंसणतुंबं' सम्यग्दर्शनतुम्बं द्वादशाङ्गारकं व्रतनेमिकं तपोधारं जिनेन्द्राणां धर्मचक्रं जयति जयति ॥१८५९॥ धम्मं ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।
जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६०॥

'दंसणसुदतवचरणमइयम्मि' दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसक्तस्य संसारे संसरतः ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥१८६१॥

'संसारम्मि अणंते' अनन्तसंसारे जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं पूर्वापरसमुद्रनिक्षिप्तयुगतरसबधिकाष्ठसंयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्‌में जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर है, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नेमि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्कमें अर होते हैं, बीचमें उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशांगवाणी या बारह तप उसके डण्डे हैं। और व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमें जुआ और पश्चिम भागमें उसकी लकड़ी डाल देनेपर दोनोंका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमें मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तणं च लोगस्स अदिमहल्लत्तं ।
जोणिबहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥१८६२॥

'असुहपरिणामबहुलत्तणं च' अशुभपरिणामानां मिथ्यात्वासंयमकषायप्रमादानां परिणामानां बहुत्वं मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्त्वं च तत् दुर्लभतां करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्रका नरकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरश्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीनां बहुत्वं चेतरासां निबन्धनं तद्दुर्लभतया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परां दर्शयत्युत्तरगाथा—

[1]देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

'देसकुलरूवमारोग्गं' देशकुलरूपमारोग्यं । आयुगमायुष्कं । 'बुद्धिसवणगहणाणि' बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभः । अन्तर्द्वीपानां शकयवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशानां धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशे मुजनाना

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते है—

गा०-टी०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोंकी बहुतायतके कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल। शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोकी योनियां बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अढ़ाई द्वीपकेबाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनियां भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोंकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनेसे ही मनुष्यगतिमें अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नही मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अतः धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते है

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नही है ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममें दक्ष मनुष्योंसे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योंसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

1. 'देसकुल जाइ रूवं, आरोग्ग आउगं च पुण्णं च ।
बुद्धिसवणग्गहणं लद्धे णरलोए दुल्लहं होई ॥' —आ० ।

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता। कदाचिदेव पापोपशमाद्यति-जनानु ढौकनेऽपि नयपुरस्सरे संप्रश्ने प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य। किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदृच्छया निद्राति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धानां वा वचनं शृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं। श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-वरणोदयात्। दुष्करत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य। श्रुतज्ञाना-धिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं। ज्ञातेऽपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्श्रेयसफलदायी जिनैर्व्यावर्णितरूप इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात्। उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपधाकुलो य लोगो जं बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्संयमघातिकर्मणः। कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वेषाः ज्ञानश्रद्धानोद्योतेनमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योंके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। कदाचित् पापका उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। अथवा मुनिगणके वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खोंके वचन सुनता है विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है। तथा समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था। तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाला जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योंकि जीवोंके दर्शनमोहका उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०-टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि बोधिके संयमका घातनेवाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामार्गसे भरा है। अतः बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं। रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानरूप भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

१. [illegible]

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ।
सो उल्लुद्दइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

'इय दुल्लहाए बोहीए' उक्तेन क्रमेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुखायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्यसौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य ततः पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स ।
पडिदं समुद्दमज्झे रदणं व तमंधयारम्मि ॥१८६६॥

'फिडिदा संती' बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतितं रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा ।
जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवट्ठिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । बोधिर्गता ॥१८६७॥

प्रस्तुतमर्थमुपसंहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स ।
ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी ॥१८६८॥

'इय आलंबणं' एवमालम्बनं भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यतिः । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः स तत वस्तुयाथात्म्यान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमें समुद्रके मध्यमें गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसारमें भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममें प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है। ध्यान करनेवाला साधु ध्यानमें निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता। जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है ॥१८६८॥

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता। कदाचिदेव पापोप
जनान् ढौकनेऽपि नयपुरस्सरे संप्रश्ने प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति
श्रवणस्य। किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदृच्छया निद्राति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति,
वा वचनं शृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं। श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रु
वरणोदयात्। दुःकरत्वं मन प्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य। श्रु
धिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं।
धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्व्याख्या
इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात्। उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपथाकुलो य लोगो जं बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबल
यमघातिकर्मण। कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवन्तश्च राग
ज्ञानश्रद्धानांतेऽमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योंके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोंका उद्धार कर
दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। कदाचित् पा
उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलने
गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। अथवा मुनिग
वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खोंके व
सुनता है, विनयपूर्वक बर्ताव नहीं करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है। त
समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था। तथा जीवादि तत
भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होने
धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्ष
फलका देनेवाला जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धा
दुर्लभ है क्योंकि जीवके दर्शनमोहका उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि
भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०-टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर
अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवके संयमका घातनेवाला कर्म प्रबल होता है।
तथा यह लोक मिथ्यामार्गसे भरा है। अतः बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही
प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं। रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानको
प्राप्त करके भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

१. [illegible]

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥१८७७॥

'जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण' येनैकमेव द्रव्यं अन्यतरेण योगेनैकेन सह वृत्त, क्षीणकषायो ध्याति तेनैकत्वं तद्भणितं एकद्रव्यालम्बनत्वात्। अन्यतरयोगवृत्तेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्वं ध्यानं क्षीणकषायस्वामिकं भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥१७७८॥
अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तयं झाणं अविचारमिति वुत्तं ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां च विलक्षणता द्वितीयध्यानस्य गाथया निवेदिता। क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिकत्वं। सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्यां च भेदः। सवितर्कता पूर्ववदेव। पूर्वध्यानवदिहवीचाराभावादवीचारत्वं ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है। यतः तीनों योगोंके धारक और चौदह पूर्वोके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है। श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है। यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके शेष गुणस्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

गा०-टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। अतः एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है। इसका स्वामी क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है। सोमदेव उपासकाध्ययन (श्लोक ६२३) में कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं। यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है। अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है ॥१८७७॥

गा०—यतः श्रुतको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है। इससे दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परि-

१. नाप –आ० ।

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगंपि ॥१८८१॥

'सुहुमम्मि कायजोगे' सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमानः केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोद्धुं तमपि सूक्ष्मं वा काययोगं ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अवियक्कमवीचारं' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अणियट्टि' सकलकर्मशातनमकृत्वा न निवर्तत इत्यनिवृत्ति। 'अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियं। 'सीलेसिं' शीलानामीशः शैलेशः यथाख्यातचारित्रं। शैलेशस्य भावः शैलेश्यं, तत्सहचारि ध्यानमपि शैलेश्यं। 'णिरुद्धयोगं'। अपश्चिमं न विद्यते पश्चाद्ध्यानमस्मादित्यपश्चिमं। 'उत्तमं सुक्कं' परमं शुक्लं ॥१८८२॥

तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ।
सवण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्चतुर्थं शुक्लध्यानं। निरुद्धयोगः सर्वज्ञः अप्रतिपातिध्यानं ध्याति शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,

---

गा०—अतः सूक्ष्मकाययोगमें स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०-टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मों को नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिवर्ति है। इसमें प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलोंके स्वामीको शीलेश कहते हैं। उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उसमें सब कर्मों का आस्रव रुक जाता है अतः उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शैलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आस्रव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तैजस और कार्मण शरीरों

---

१ रत्रियना —आ०।

'एवं कसायजुद्धंहि' कषायसंप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति। ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध
। न प्रतिपक्षं प्रहन्तुमलं। कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥१८८६॥

रणभूमीए कवचं व कसायरणे तयं हवे कवचं।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

'रणभूमीए' युद्धभूमौ कवचवत्कषाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति। एतेन कषायपीडारक्षां करोति ध्यान-
त्याख्यातं। ध्यानाभावे दोषमाचष्टे। 'जुद्धे व णिरावरणो' युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना
रकः ॥१८८७॥

ज्झाणं करेइ खवयस्सोवट्ठंभं खु हीणचेट्ठस्स।
थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठंभं ॥१८८८॥

'झाणं करेदि' ध्यानं करोति क्षपकस्योपष्टम्भं हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टि-
ष्टम्भं ॥१८८८॥

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइ खवयस्स दढबलं झाणं।
झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

'मल्लस्स णेहपाणं व' मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति। ध्यानहीनः क्षपको रङ्गे
ोपितो मल्ल इव न प्रतिपक्षं जयति ॥१८८९॥

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

गा०-टी०—इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कषायोंका संहार करनेमें ध्यान
पकके लिये आयुध होता है। अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोंका विनाश किया जाता है। जैसे
ना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना संभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को
हीं जीत सकता। इससे ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०-टी०—जैसे युद्ध भूमिमें कवच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान कवचके
मान है। इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है। ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं।
से युद्ध में कवचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है। अर्थात् युद्धमें
ना कवचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है। वह भी उसी
तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमें असमर्थ वृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे
असमर्थ क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको दृढ़ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति
दृढ़ करता है। जैसे अपुष्ट मल्ल अखाड़ेमें हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे
र जाता है ॥१८८९॥

---

१. कवचं होदि झाण कसायजुद्धम्मि —मु०।

अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञान [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] चतुर्थयो ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्झाणं एयग्गमणो समस्सिदो सम्मं ।
विउलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेढिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवगो' एवमसौ क्षपकः, एकाग्रचित्तः सम्यग्ध्यानं समाश्रित्य [illegible] कर्मनिर्जरायां वर्तते. 'गुणसेढिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढः उपशान्तकषायादिकां ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थं उत्तरप्रबन्ध —

सुचिरं वि संकिलिट्ठं विहरंतं झाणसंवरविहूणं ।
ज्झाणेण संवुडप्पा जिणदि अंतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमवि संकिलिट्ठं विहरंतं' पूर्वकोटिकालं देशोनं क्लेशसहितचारित्रोद्यतं 'ज्झाणसंवरविहूणं' ध्यानाख्येन संवरेण विहीनं । 'जिणदि' जयति । कः ? '[1]आहोरत्तमेत्तेण झाणेण संवुडप्पा' अहोरात्रमात्रेण ध्यानेन संवृतात्मा ॥१८८५॥

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं ।
ज्झाणविहूणो खवओ [3]रंगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है। सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम वाला सयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आस्रव से रहित अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त होता है। अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में बासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती है। उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कषाय आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर आरूढ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके माहात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप संवरसे युक्त मुनि, कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप संवरसे रहित तथा संक्लेशसहित चारित्र का पालन करने वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

---

१. समण्णिदो —अ०। २. अहोरत्तमित्तेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति। अहोरात्रमात्रेण झाणेण संवुडप्पा ध्यानेन संवृतात्मा कर्मकाण्डकोऽपि न जयति —आ०। ३. रणगोवअ —आ०। जुद्धेव णिराउधो होदि —मु०।

इय झायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ।
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥१८९७॥

'इय झायंतो खवओ' एवं ध्यानेन प्रवर्तमान क्षपकः। यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा 'आराधणाए' रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठीहिं।
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

'हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं' हुंकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूक्षेपेण, अङ्गुलिप्रदर्शनेन उपदेष्टारं प्रति प्रसन्नतया(प्रया) दृष्ट्या कि समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकम्पनेन सञ्ज्ञां दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं।
जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायसवएण ॥१८९९॥

'तो पडिचरया' ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेताः। श्रावणि ॥१८९९॥

लेश्याशुद्धिं कथयति—

इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्थझाणं च।
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगों की चिकित्सामें कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करनेमें कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है। तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमें संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होंसे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुंकारसे, हाथों की अंजुलि द्वारा, या भौं के संचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोंकी मुट्ठी बनाकर या सिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमके रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही कह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुंकार आदि संकेतोंसे कह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध

'वैरं रवणेसु जधा' यथा रत्नेषु वज्रं गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दनं। मणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूतं ॥१८९०॥

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि।
झाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'झाणं किलेससावदरक्खा' ध्यानं दुःखश्वापदानां रक्षा, श्वापदभये रक्षेव ध्यानं क्लेशव्यसने मित्रं, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाणं कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं।
झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥
झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि।
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥
झाणं कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९४॥
झाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछदे कुसलो।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो ॥१८९५॥
झाणं विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा।
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोंमें हीरा, सुगन्धित द्रव्योंमें गोशीर्ष चन्दन और मणियोंमें वैडूर्यमणि सारभूत है। वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमें ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओंसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दुःखरूपी हिंसक जन्तुओंसे रक्षा करता है। तथा जैसे संकट में मित्र सहायक होता है वैसे ही दुःखरूपी संकटमें ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है। जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घाममें बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीतसे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आगके समान है ॥१८९३॥

गा०—जैसे सेना और वाहनोंसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रुसेनाका भय दूर करनेके लिए ध्यान बल वाहनसे समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ ।
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०३॥

'तेओ पम्मा सुक्का' तेजःपद्मशुक्ललेश्याः प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥१९०३॥

एदेसिं लेस्साणं विसोधणं पडि उवक्कमो इणमो ।
सव्वेसिं संगाणं विवज्जणं सव्वहा होइ ॥१९०४॥

'एदेसि लेस्साणं' एतासां शुभलेश्यानां शुद्धि प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्यागः ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥१९०५॥

'लेस्सासोधी' लेश्यानां शुद्धिः । 'अज्झवसाणविसोधीए होदि' परिणामविशुद्धया भवति । 'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धिश्च । 'मंदकसायस्स' मन्दकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कषायाणां मन्दता कथमित्याचष्टे—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ।
गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥१९०६॥

'मंदा हुंति कसाया' कषाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं ग्रन्थकलिं गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इंधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ।
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओंको त्यागकर वैराग्य भावनासे युक्त होता है और संसारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेश्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट संवेगभावको धारण करता है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओंकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामें विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है। और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामोंमें विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कषायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है। जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'इय समभावमुवगवो' एवं समचित्ततां गतः प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ।
अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥
किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।
पजहइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

'जह बाहिरलेस्साओ' कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्रः अप्रशस्ताः प्रजहाति वैराग्यभावनावान् संसार-भीरुता परामुपागतः ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता है। वैसे ही अभ्यन्तरमें कृष्ण आदि भावलेश्या होती हैं ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। मिथ्यात्व आदिके कारण जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है। आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेश्या है। लेश्या छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं। अशुभ लेश्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेश्याओंमें मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेश्याओंमें कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या तीव्रतर है और कृष्ण लेश्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेश्याओंमें पीतलेश्या मन्द, पद्म मन्दतर और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़से काटकर फल खाना चाहता है उसके कृष्ण लेश्या है। जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता है उसके नीललेश्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है। जो एक उपशाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है। जो केवल फल ही तोड़कर खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे युक्त है, निर्दय है, [illegible] है, मद्य मांसके सेवनमें आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है। जो [illegible], मायावी, [illegible], अनेक प्रकारकी परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला होता है। जो दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, [illegible] [illegible] नहीं देखता, लड़ाई होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या वाला है। जो [illegible] [illegible] है [illegible], हित अहितको जानता है दयादानमें प्रवृत्त है वह पीतलेश्यावाला होता है। जो [illegible], क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता है वह पद्मलेश्यावाला होता है। जो माया और निदान नहीं करता, [illegible] नहीं करता वह शुक्ललेश्यावाला है ॥१९०२॥

'सुक्काए लेस्साए' शुक्ललेश्याया उत्कृष्टांशं परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।
तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥१९१३॥
जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए ।
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेसा सुक्काए दु अंसया' उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अंशा ये चापि पद्मलेश्याया अंशाः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमित्ता ।
कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणिदा ॥१९१५॥

'तेजाए लेस्साए' तेजोलेश्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।
तल्लेसो उववज्जइ तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ।
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहन्त होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिस लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमें उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोड़कर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

[illegible] ॥१९०७॥

जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं ।
खोभेइ पसण्णमवि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥१९०८॥

[illegible] ॥१९०८॥

अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे चयदि ।
अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ॥१९०९॥

'अब्भंतरसोधीए' [illegible] ॥१९०९॥

अब्भंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिनियमेन भवति । [illegible] दोषान् करोति ॥१९१०॥

जघ तंदुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादुं ।
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥१९११॥

'जह तंदुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलशुद्धिः कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धिः कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमित्ता ।
जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईंधनसे आग बढ़ती है और ईंधनके अभावमें बुझ जाती है वैसे ही परि[ग्रहसे] कपाय बढ़ती है और परिग्रहके अभावमें मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमें पत्थर फेंकनेसे नीचे बैठी हुई कीचड़ ऊपर आ जाती है। वैसे [ही] परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कपाय उदयमें आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरंगमें कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता [है।] अभ्यन्तरमें मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विशुद्धि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है। अभ्यन्तरमें दो[ष] होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाहरमें तुष (छिलका) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि सभव नही है वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि सभव नही है ॥१९११॥

सव्वुक्कस्सं जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ।
कम्मरयविप्पमुक्का हवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

'सव्वुक्कस्स' सर्वोत्कृष्टं दर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो विप्रयुक्ता आराधकाः सिद्धा न्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपालित्तु केवली भविया ।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥१९२३॥

'इय उक्कस्सिय' एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशाः लोकाग्रशिखरवासिनः द्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता ।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

'अह सावसेसकम्मा' अथ सावशेषकर्माणो मथितकषाया प्रणष्टमिथ्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-विदमथनाः ॥१९२४॥

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

'पञ्चसमिदा' समितिपंचकोपेता गुप्तित्रयोपेताः सुसंवृता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनसः समसुख-खा असंमूढाः ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगो अधिट्ठदा सम्मं ।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

'सव्वसमाधाणेण' सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा युक्ताः ॥१९२६॥

गा०—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्रको प्राप्त के वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कषायोंका र हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन प्तियोंके द्वारा सम्यक् रूपसे संवर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें नताका भाव नहीं लाते। मोहरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं। मन, वचन, यको समाहित करके चारित्रमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें पयोग लगाते हैं ॥१९२४-२६॥

सुपभत्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगसंसुद्धा ।
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥१९३२॥

जावदिया रिद्धिओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ।
ताइं लहंति ते आगमेसि भद्दा सया खवया ॥१९३३॥

'जावदिया रिद्धीओ' यावन्त्यः ऋद्धयो यानि च यावन्तीन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लभ्यन्ते [illegible]ः क्षपकाः ॥१९३२-१९३३॥

जे वि दु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि दु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥१९३४॥

'जे वि दु जहण्णियं' येऽपि जघन्यामाराधनां तेजोलेश्यासमन्वितामुपनमन्ति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा [illegible], भावनादिको देवाः ॥१९३४॥

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिहिलं ॥१९३५॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुनोक्तेन समस्तस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधनां [illegible] ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।
इड्ढिमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

'भोगे अणुत्तरे' भोगाननुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा [illegible]हितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक [illegible]न्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक [illegible]ी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोंमें [illegible]ते हैं, नीचेके देव नहीं होते। अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने[illegible] शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गोंके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं [illegible]हाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्के द्वारा कहे हुए [illegible] पालन करते हैं ॥१९३६॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

'इय मज्झिमं' एवं मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनु... भवन्ति ॥१९२७॥

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य ।
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दसणणाणचरित्ते' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथं प्रपन्ना लव... भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

'कप्पोवगा सुरा जं' कल्पोपपन्ना सुरा अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽनन्त... लवसत्तमदेवानां ॥१९२९॥

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।
वड्ढिदतवोवधाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च संयमे आयुक्ता वर्द्धिततपोऽभिग्रहाः सततं विशुद्धलेश्या... क्षपकाः ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणावड्ढिदगुणड्ढा ।
देविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय देहं' विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेन्द्रचरमस्थानं लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेश्याके धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोंसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रवके धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रैवेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवांगनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्रमें लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढ़ाते हैं, वे विशुद्ध लेश्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उत्तम स्वर्गमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभत्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगसंसुद्धा ।
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥१९३२॥

जावदिया रिद्धिओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ।
ताइं लहंति ते आगमेसिं भद्दा खया खवया ॥१९३३॥

'जावदिया रिद्धीओ' यावन्त्यः ऋद्धयो भवन्ति यावन्तीन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लभन्ते भद्रात्मकाः क्षपकाः ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥१९३४॥

'जे वि हु जहण्णियं' येऽपि जघन्यामाराधनां तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवन्ति, नाधोभाविनो देवाः ॥१९३४॥

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिहिलं ॥१९३५॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुनोक्तेन समस्तस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधना सम्पन्नाः ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।
इड्ढीमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

'भोगे अणुत्तरे' भोगाननुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लौकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोंमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते । अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गोंके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासंवेगवीरियोवगया ।
जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभविय ॥१९३७॥

'सदिमंतो' स्मृतिमन्तः धृतिसमन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिताः, परीषहाणां विजेता भवितारः ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ।
सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

'इय चरणमधक्खादं' एवं यथाख्यातचारित्रं प्रतिपन्नाः शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ताः विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ।
उम्मुक्ककम्मकवया उविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥१९३९॥

'सुक्कं लेस्समुवगदा' शुक्ललेश्यामुपगताः शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा क्लेशाः सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं ।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥१९४०॥

'एवं संथारगदो' उक्तेन प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि श्रुतदर्शनचारित्रशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवात् रौद्रपरिणतः पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं च चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुगदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोंका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, संवेग और शक्तिसे युक्त होते हैं। परीषहोंको जीतते हैं और उपसर्गोंको निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नहीं होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न होकर संक्लेशयुक्त अशुभ लेश्याओंका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेश्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा संसारका क्षय करते हैं और कर्मबन्धनसे मुक्त हो, सब दुःखोंको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको नि... भी कोई-कोई क्षपक कर्मोंके गुरुता होनेसे आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय का आराधन ...ता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोड़ता है व... ...न नहीं करता ॥१९४१॥

'झायंतो अणगारो' मरणकाले आर्तरौद्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वदेहं जहाति नासौ क्षपकः सुगतिं लभते ॥१९४१॥

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ।
परिवडदि वेदणट्टो खवओ संथारमारूढो ॥१९४२॥

'जदि वा सुभाविदप्पा वि' यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढः वेदनार्तः क्षपकः संक्लेशेन हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।
जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीलाः संसक्ता वा स्वच्छन्दाः ॥१९४३॥

तत्र अवसन्नाः निरूप्यन्ते—

[1]गच्छंहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ।
सारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पविहरंति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्णः मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । भावावसन्नः अशुद्धचरित्रे सीदति उपकरणे, वसति संस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुद्यतः, आवश्यकेष्वलसः, ऊनातिरिक्तं वा अनाधिक्यं करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवंभूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्नः । अन्यानं परस्परि

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तरपर आरूढ़ हों, संक्लेशके कारण मरते समय सन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पार्श्वस्थ, सदा कुशील, ससक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०-टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचड़मे फँस गया या मार्गमें थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं। वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता है। वह उपकरणमें, वसतिकामें, संस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेम, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता। वह आवश्यकोंमें आलस्य करता है। या दूसरोंसे करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावसे नहीं करता। इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं।

1. इस गाथा पर किसी प्रति में क्रमांक नहीं दिया है। न इस पर किसी की टीका ही है। सं०

कश्चित् भूतिकर्मकुशीलः भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षां
वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः। उक्तं च—

भूदीयव धूलीयं वा सिद्धत्थग पुप्फफलुदकादीहिं।
रक्खं वसियरणं वा करेदि जो भूदिगकुसीलो॥

कश्चित्प्रसेनिकाकुशीलः, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसे-
नीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति। कश्चिन्निमित्तकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रैरौषध-
प्रयोगैर्वा असयंत चिकित्सां करोति सोऽप्रसेनिकाकुशीलः। कश्चिन्निमित्तकुशीलः अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो
लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशीलः। आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीव-
कुशीलः। केनचिदुपद्रुतः परं शरणं प्रविशति, अनाथशाला वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सां करोति स वा
आजीवकुशीलः। विद्यायोगादिभिः परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपरः कक्वकुशीलः। इन्द्रजालादिभिर्यो जनं
विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति। वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च संभवमुपदर्शयति, गर्भस्थाप-
नादिकं च करोति यः स संमूर्छनाकुशीलः। [1]त्रसजाना, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य
परिशातनं [2]आभिचारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः॥ उक्तं च—

काओतिकभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीवे।
कक्वकुहन समुच्छण पपादणादीकुसीलो दु॥ इति॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है। यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, अथवा जल
आदिसे मंत्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह
भूतिकर्म कुशील है। कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका,
शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरंजन करता
है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और ओषध प्रयोगके द्वारा असंयमी जनोंका
इलाज करता है। कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टांग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट
अनिष्ट बतलाता है। जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह
आजीवकुशील है। जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमें जाता है अथवा अनाथशाला-
में जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है। जो विद्या प्रयोग आदिके
द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमें तत्पर रहता है वह कक्वकुशील होता है। जो
इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाड़ी,
पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील
है। जो त्रसजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता
है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है। कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील,
आजीव कुशील, कक्वकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

---

1. त्रसजातीना —आ०। 2. अभिसारिकं —मु०।

[illegible] कुशीला [illegible]— [illegible] भोजन [illegible], [illegible] अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः । धूर्तः [illegible] कुशीलः । [illegible]— [illegible] चारित्र अप्रियचारित्रे [illegible] प्रतिबद्ध, [illegible] अवसन्नो [illegible] मति पार्श्वस्थ कुशील [illegible] कुशील [illegible] निरूप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति [illegible] जलधारणमसंयम क्षुरकर्तरिकादिभिः केशोत्पाटन [illegible] आत्मविराधना [illegible] वसतः अवस्थितानामाबाधेति, उद्दिष्टादिके [illegible] गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथन, पाणिपात्रिकस्य परिशातन दोषो भवतीति [illegible] विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापरः स्वच्छन्द इत्युच्यते ॥१९५४॥

है। गाथामें आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोंको कहते हैं—जो धान, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रहको स्वीकार करते हैं हरे कंद, फल खाते हैं, [illegible] भोजन, [illegible] वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीकथामें लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रवके अधिकरणोंमें लगे रहते हैं वे सब कुशील हैं। जो धूर्त, प्रमादी और विकारयुक्त वेश धारण करता है वह कुशील है।

अब संसक्तका स्वरूप कहते हैं। चारित्रप्रेमियोंमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं, ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमें लीन होते हैं, स्त्रियोंके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे संसक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ, कुशीलके संसर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वयं भी स्वच्छन्द होते हैं।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममें नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षामें जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान लगाना असंयम है। छुरे कैंची आदिसे केश काटनेकी प्रशंसा करना और कहना कि केशलोच करनेसे आत्माकी विराधना होती है। पृथ्वीपर सोनेसे तृणोंमें रहनेवाले जन्तुओंको बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममें भ्रमण करनेमें जीव निकायकी महती विराधना होती है। घरके पात्रोंमें भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है ऐसा कहना। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं ॥१९५४॥

---

१. च पूर्णं च—अ० । २. विवेकादि —आ० । ३. अकरणो —अ० । ४. के भोजने मु० । ५. गृह मात्रासु भो —अ० आ० ।

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा।
अच्चासादणसीला मायाबहुला णिदाणकदा ॥१९४५॥

'अविसुद्धभावदोसा' भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः शङ्कादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता यैस्ते अविशुद्धभावदोषाः। 'कसायवसिगा' कषायवशवर्तिनः। मन्दसंवेगाः। 'अच्चासादणसीला' गुणानां गुणिनां चापमानकारिणः। प्रचुरमायानिदानगताः ॥१९४५॥

सुहसादा किंमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी।
विसयासापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

'सुहसादा' सुखास्वादनपराः। 'किंमज्झा' किं मम केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः। 'गुणसायी' गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शीतल इव निरुत्साहाः। 'पावसुत्तपडिसेवी' आत्मनः परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वासंयमकषायाणां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैद्यकं, कौटिल्यं, स्त्रीपुरुषलक्षणं, धातुवादः, काव्यनाटकानि, चौरशास्त्रं, शस्त्रलक्षणं, प्रहरणविद्याचित्रकलागान्धर्वगन्धयुक्त्यादिकं एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादराभ्यासाः। 'विसयासापडिबद्धा' अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्था या आशा तस्यां प्रतिबद्धाः, 'तिगारवगुरुका' गारवत्रयैर्गुरवः। 'पमाइल्ला' विकथादिपञ्चदशप्रमादसहिताः ॥१९४६॥

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

'समिदीसु य' समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिताः परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धावनादृताः ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे क्यों च्युत हो जाते हैं यह सात गाथाओंसे कहते हैं—

गा०-टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शंका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं. कषायोंके वशवर्ती होते हैं. उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोंका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०-टी०—वे सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे संघके सब कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता। अपने और दूसरोंके अशुभ परिणामको तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषायको बढ़ानेवाला शास्त्र पापसूत्र है। निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गांधर्व (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होता है, उसीका वे अध्ययन करते हैं। इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीन गारवमें आसक्त होते हैं। विकथा आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—समिति, गुप्ति और शील तथा संयमके गुणोंमें भावनासे रहित होते हैं। लौकिक कार्योंमें संलग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया भदा होंति ।
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया ॥१९५३॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुंति ।
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४।
सम्मोहणाए कालं करित्तु दुंदुगा सुरा हुंति ।
अण्णंपि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगाथात्रयं ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
तं तेसिं बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं ॥१९५६॥

'इय जे विराधयित्ता' एवं ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषां बालमरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्हू ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥१९५७॥

'जे सम्मत्तं खवगा' ये क्षपकाः सम्यक्त्वं विनाश्य म्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोंकी समितिसे बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पोंके अन्तमें बसनेवाले चाण्डाल जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं। किल्विषभावनासे मरकर किल्विषक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं। तथा आसुरी भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुंदुग जातिके देव होते हैं। अन्य भी विराधना करके मरनेवाले मुनि देवगतिमें हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे मूढ़देव स्वर्गसे च्युत होकर दुःखकी वेदनारूपी लहरोंसे भरे संसारसमुद्रमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

'दंसणणाणविहीणा' [illegible] मंसारमनन्तं गता ॥१९५८॥

जो मिच्छत्तं गंतूण किण्हलेस्सादियाहिं मरदि ।
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

'जो मिच्छत्तं गंतूण' [illegible] यल्लेश्यः कालं कृतवान् । कर्ता ॥१९५९॥

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोव्व होज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥१९६०॥

'एवं कालगदस्स' एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वावस्थितं वैयावृत्यकराः स्वयमेवापनयन्ति यत्नेन ॥१९६०॥

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे ।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥१९६१॥

'समणाणं ठिदिकप्पो' श्रमणानां स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वैः साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१९५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमें या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वयं ही सावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोंमें एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके प्रारम्भमें सब साधुओंको नियमसे निषीधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओंका स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमें भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्वमें साधुओंके जो दस स्थितिकल्पोंका कथन किया है, उसमें एक मास और पज्जोसवण कल्प भी हैं। उसके अनुसार जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है। जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निषीधिका कहते हैं। इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओंका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निषद्याके निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

'एगंता सालोगा' एकाता परै. प्रायेणादृश्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वस्ता दूरमवगाढा ॥१९६२॥

[1]अविसुय असुसिर अघसा सा उज्जोवा बहुसमा असिणिद्धा ।
णिज्जंतुगा [2]अरहिदा [3]अविला य तहा अणाबाधा ॥१९६३॥
जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।
वसधीदो [4]विरइज्जइ णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥१९६४॥

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्या वा दिशि वसतितः निषीधिका प्रशस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तमो सुलभं ।
अवराए सुविहारो होदि य से उवधिलाभो य ॥१९६५॥

'सव्वसमाधी पढमाए' सर्वेषां समाधिर्भवति 'पढमाए' अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधिकायां, दक्षिणदिगवस्थितायामाहार. सुलभः । पश्चिमायां सुखविहार उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥१९६६॥

'जदि तासिं वाघादो' यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निषधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निषीधिका एकान्त स्थानमें होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हों। नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये। विस्तीर्ण होनी चाहिये। प्रासुक होनी चाहिये तथा अतिदृढ़ होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चीटियोंसे रहित होनी चाहिये। अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये। प्रकाशवाली होनी चाहिये। समभूमि होनी चाहिये। गीली नहीं होनी चाहिये, जन्तु रहित होनी चाहिये। तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा बाधारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामें या दक्षिण दिशामें या पश्चिम दिशामें हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशामें हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता है। यदि दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार लाभ सुलभ होता है। यदि पश्चिम दिशामें हो तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होता है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिशाओंमें निषीधिका निर्माणमें बाधा हो तो क्रमशः पूर्व दक्षिणमें, पश्चिम-उत्तरमें, पूरबमें या उत्तरमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिये ॥१९६६॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति। अतिसुइ—आ०, अभिसुआ—मु०। २. अहरिदा मु०। ३. अचला आ०। ४. उवणिज्जइ आ०; वण्णिजदि —मु०।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य।
मेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एतासु निषीधिकासु फलं क्रमशो विजानीयात्। 'तुमंतुमा य' पूर्वदक्षिणस्यां स्पर्द्धा, अपरस्यां कलहः, पूर्वस्यां भेदः उदीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं' यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बन्धनं छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरणं कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बालं वुड्ढं सीसं तवस्सिभीरूगिलाणए दुहिदे।
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥१९६९॥

'बाले वुड्ढे' बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्यांश्च [illegible] धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बध्नन्तीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता।
बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥१९७०॥

गा०—[illegible] पूर्व-दक्षिण दिशामें होनेसे 'मैं ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो', इत्यादि रूप [illegible] होता है। [illegible] दिशामें होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामें होनेसे [illegible] भेद पड़ता है। [illegible] दिशामें होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामें होनेसे परस्परमें खींचातानी होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओंमें निषद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषार्थ—[illegible] अपनी टीकामें लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामें निषद्या [illegible] होता है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिए। यदि असमयमें [illegible] बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

[illegible] कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—[illegible] मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, [illegible] मुनि, रोगी मुनि और [illegible] निद्राको जीतनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

[illegible] यह कहते हैं—

गा०—[illegible] हैं, जिन्होंने अनेक बार [illegible] किया है, [illegible]

'गोदत्था' गृहीतार्था., कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्वा बध्नन्ति छिन्दन्ति च करचरणं अङ्गुष्ठप्रदेशं वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्कायां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१९७१॥

'जदि वा एस' यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्रमेत वा बाधयेद्वा तद्दर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥१९७१॥

[1]उयसयपडिदावण्णं उवण्णगहिदं तु तत्थ उवकरणं ।
सागारियं च दुविहं परिहारियमपरिहरियं वा ॥१९७२॥
जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदा ।
देउलसागारित्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'जइ विक्खादा भत्तपदिण्णा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता ।
उट्ठेंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरबन्धात्ततो मृतकबन्धनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थानरक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अगूठेको बांधते या छेदते हैं ॥१९७०॥

ऐसा नही करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड़ सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुंचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त चंचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकासे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नहीं हैं ॥१९७२॥

अब आर्यिकाओंकी संन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामें रखकर संस्तरके साथ उसे

---

1. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।
मरणं गिलाणयं वा गणिवसभजदीण णायव्वा ॥१९७९॥

'जदि विसमो संथारो' यदि विषम संस्तर उपरिष्टात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं ।
उट्ठंतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं ॥१९८०॥

'जत्तो दिसाए गामो' यस्यां दिशि ग्राम. तत शिर कृत्वा सपिच्छकं शरीरं व्युत्स्रष्टव्यं, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामादिममभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ।
सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि विराधिय' योऽपि दर्शनं विनाश्यान्ते कालगतस्सुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥१९८१॥

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु [1]सव्वेसिं ।
[2]एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥१९८२॥

संस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमें या नीचे विषम होता है तो ऊपरमें विषम होनेपर आचार्य का मरण या उन्हे रोग होता है। मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हे रोग होता है। और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हे रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है। किन्तु टिप्पणकमें कहा है—ऊपरमें विषम होनेपर गणिका मरण होता है। मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिस दिशामें ग्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना चाहिये। शवके उठनेके भयसे उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमें संयमी था ॥१९८१॥

गा०—अल्पनक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है। यदि

---

१. सव्वेहिं—अ० आ० । २. एक्को दु सो मरिज्ज वत्ते दिहड्ढ खित्ते मरिंति दुधो—आ० ।

सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा।[3]
रोहिणिविसाहपुणव्वसु त्तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ॥१९८३॥

'णत्ता भागे रिक्खे' अल्पनक्षत्रे यदि क्षपकः कालं गतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतः अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥१९८२–१९८३॥

गणरक्खणत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

'गणरक्खणत्थं' गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमयं प्रतिबिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात्। उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥१९८५॥

'तट्ठाणसावणं' मृतकपार्श्वे तत्प्रतिबिम्बं स्थाप्य त्रिकमुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोऽर्पित इति एवमर्पणेऽयं क्रम। द्वयोः प्रतिबिम्बयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है। यदि महानक्षत्रमें मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढ़ा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं। शेष नक्षत्र मध्यम हैं ॥१९८३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रमें मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं। ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है। जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है। जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा भाद्रपद, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखा इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—[illegible] गणकी रक्षाके अभिप्रायसे तृणका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला दे। यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले दे ॥१९८४॥

गा०—टी०—मृतकके पासमें उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे [illegible] [illegible] कि [illegible] इसके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है। [illegible] स्थानमें यह पुतला [illegible]

[3] [illegible]

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं ।
कादव्वोथ ककारो उवरिं हिट्ठा यकारो से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिबिम्बकरणार्थमसति तृणे चूर्णैः पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् यकारं कुर्यात् कैव इति लिखितव्यं ॥१९८६॥

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ।
पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिदं उवकरणं' मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयाच्ञां कृत्वा तत्रोपकरणं प्रतिनिवर्तनीयं यत्तादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्पयितव्यं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो ।
अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीयं' आराधनास्माकमित्येवं यथा स्यादिति संघः कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतौ अधिष्ठातृदेवतां प्रति इच्छाकारं वयं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं ।
ण ज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंपि ॥१९८९॥

'सगणत्थे कालगदे' आत्मीयगणस्थे मृतौ कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

या है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह एक पुतला देनेका विधान है। पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है। ये दोनों जिनके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनों साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर, राख वगैरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे यकार लिखे। इस प्रकार 'क्य' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०-टी०—मृतकको शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंसे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिहारिकको गृहस्थोंको सम्यक् रीतिसे समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे संघ एक कायोत्सर्ग करे। तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०-टी०—अपने संघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१-२. य कारो आ० मु० । ३. तु काय इति —आ० मु० । ४. सज्झाइ —मु० ।

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणविंतरओ ।
गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥१९९४॥

'वेमाणिओ थलगदो' वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यन्तरो जातः, गर्त्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात', एषा गतिस्तस्य सक्षेपेण निरूपिता । विजहणत्ति सूत्र-पदं गतं । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तरं ते सूरा भगवतो—

ते सूरा भयवंतो आइच्चइदूण संघमज्झम्मि ।
आराधणापडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं ॥१९९५॥

'ते सूरा भगवंतः आइच्चइदूण' प्रतिज्ञा कृत्वा संघमध्ये चतुष्प्रकाराधना पताका यैरागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । ते ज्ञानिन , ते लब्धलाभाः, सर्वेभ्यो यैराराधना भगवती सपूर्णा प्रति-पन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।
आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लागे' किनाम तैर्लोके महानुभावैरप्राप्त यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मों से
विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ सवार्थसिद्धि किया है ।
मुक्त किया है । तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमे 'सिद्धि' का अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥
किन्तु प्राकृतटीकामे सिद्धिका अर्थ

गा०-टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना । यदि सम भूमिभागमे दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना । यदि गढ़ेमें दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना । इस प्रकार यह उसकी गति सक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होने संघके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होंने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी है और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोने लोकमे क्या प्राप्त नहीं किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या यैस्तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सकलाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकानां फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेवि' यो ढौकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि कृतार्थाः धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ताः स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशंसा करते हैं—

गा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोंको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते हैं उनकी भी प्रशंसा करते हैं—

गा०-टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि संसारसे पार उतारनेमें निमित्त है। उसमें स्नान करनेसे पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महातीर्थमें स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्वियोंके द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणोंकी राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है ॥२००१॥

'गिरिणदियादिपदेसा' गिरिनद्यादिप्रदेशा यदि तपोधनैरध्युषितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥२००१॥

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥२००२॥

'पुव्वरिसीणं पडिमाउ' पूर्वेषां ऋषीणां प्रतिमा वदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वन्दनोद्यतः कथं विपुलं पुण्यं न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००३॥

'जो ओलग्गदि आराधय' यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्तः, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥२००३॥

सविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ।
अविचारभत्तपच्चक्खाणं एत्तो परं वुच्छं ॥२००४॥

'सविचारभत्तवोसरणं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

'तत्थ अविचारभत्तपविण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढम णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।
तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥२००६॥

'तत्थ पढमं णिरुद्ध' तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धतरकं, तृतीयं परमनिरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपककी वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया । आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवंभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो ।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥२००७॥

'तस्स णिरुद्ध भणिदं' तस्य निरुद्धमुक्तं रोगेण आतङ्केन वा यस्समभिभूतः जङ्घाबलपरिहीनो वा परगणगमनासमर्थो य ॥२००७॥

जावय बलविरियं से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ।
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण ॥२००८॥

'जावय बलविरियं' यावद्बलवीर्यं चास्ति । 'से' तस्य । 'सो विहरति' स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकारः यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकारः ॥२००८॥

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२००९॥

'इय सण्णिरुद्धमरणं भणिदं' एवं सन्निरुद्धमरणं भणितं, जङ्घाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं । 'अणिहारिमं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीनं अनियतविहारादिविधिविचारणाभावादवीचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्याती-चार उक्त्वा निन्दागर्हापर कृतप्रतिक्रमः कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे संघमें जानेमें असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जबतक उसमें शक्ति रहती है तबतक वह अपने संघमें रहते हुए किसीसे परिचर्या नहीं कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने संघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०-टी०—पैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही संघमें निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमें जिस प्रकार संघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमें संभव न होनेसे यह मरण परित्यागसे रहित है । और इसमें अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही संघमें आचार्यके समीपमें दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोंसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ॥२००९॥

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ।
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं ॥२०१०॥

'दुविधं तं पि अणीहारिमं' द्विविधं तदपि अणीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति। ज्ञातं प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा ।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥२०११॥

'खवयस्स चित्तसारं' क्षपकस्य वृद्धिं, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषहासहः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरूक्षो, बान्धवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वन्ति न प्रकाशः कार्यः । निरुद्धं गदं ॥२०११॥

निरुद्धतरं व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिंछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥२०१२॥

'वालग्गिवग्घमहिस' व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्भवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया खियदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

'जाव ण वाया खियदि' यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्याक्षिप्तं भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०-टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप। जो लोगोंके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोंको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०-टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है। अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदिकी परीषह सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नहीं होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती हैं, या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥२०१४॥

'णच्चा संवट्टिज्जंत आउगं' ज्ञात्वा संह्रियमाणमायुः शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीनां सन्निहितानामालोचनां सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनायां परिणतः । मुञ्चेत् वसति, संस्तरमाहारमुपधिं शरीरं परिचारकान्, बलवीर्य हानेः परगणगमनासमर्थाः 'निरुद्धाः प्रदेशाः प्रकर्षेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एवं णिरुद्धदरयं विदियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोगं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धदरं ॥२०१५॥

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभिः पूर्वोक्तैः यदोपद्रुतस्य वाग्विनष्टा तदा परमनिरुद्धमरणं । वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'णच्चा संविट्टिज्जंतं आउगं' ज्ञात्वोपसंह्रियमाणमायुः अर्हतां सिद्धानां साधूनां चान्तिके शीघ्रं मालोचनाः कुर्यात् ॥२०१७॥

गा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हों, उनके सन्मुख अपने दोषोंकी सम्यक्‌रूपसे आलोचना करे । तथा रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर होता हुआ वसति, संस्तर, आहार, उपधि, शरीर और परिचारकोंसे ममत्वका त्याग कर दे । बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य संघमें जानेमें अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हें निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमें भक्त प्रत्याख्यानकी जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके कारण क्षपककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नहीं सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम शब्दसे वाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तों, सिद्धों और साधुजनोंके पासमें तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

---

१. ज्ञा प्रदेश प्रकर्षेण निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते –अ० ।

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो ॥२०१८॥

'आराधणविधी' आराधनाया विधेयं पूर्वं विस्तारो व्यावर्णितः स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥२०१८॥

एवं आगुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ।
आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

'एवं आगुक्कारमरणे वि' एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसंहतयः । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण दु पमाणं ।
बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहण्णवं तिण्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृतिर्मार्गैरित्याशङ्का न कार्येति वदति—'आराधणाए तत्थ दु', तस्यामाराधनायां कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य संसारमहार्णवं तीर्णाः ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वद्धणो राया ।
उसहस्स पादमूले संबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले संबुद्धो गतः सिद्धिं ॥२०२१॥

[1]सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥२०२२॥

स्पष्टमिदं ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमें जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही है वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थोड़े ही समयमें मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि आराधनामें कालका बहुतपना प्रमाण नहीं है। बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमें आराधना करके संसारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें बोधको प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तमुहूर्तमें केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

---

1. गाथां टीकाकारो नेच्छति ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा।
इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

'एसा भत्तपविण्णा' एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं। अत ऊर्ध्वं सान्यातिकमिंगिणीमरणं व्यासगमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो।
सो चेव जधाजोग्गं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४॥

'जो भत्तपविण्णाए' यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः सविस्तारः स एव यथासंभवमुपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्पं च।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

'पव्वज्जाए सुद्धो' प्रव्रज्यायां शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः। एतेन अर्हता निरूपिता। 'उवसंपज्जित्तु' प्रतिपद्य। 'लिंगकप्पं च' योग्यं लिङ्गं 'लिंगं' इत्यनेन सूचितम्। 'पवयणमोगाहित्ता' श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा उपन्यस्ता। 'विणयसमाधीए विहरित्ता' विनयसमाधौ विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं ॥२०२६॥

'णिप्पादित्ता सगणं' योग्यं कृत्वा स्वगणं। इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, 'सिदिमारुहित्तु' परिणामश्रेणिमारुह्य। 'भाविय' भावनां प्रतिपद्य। 'अप्पाणं सल्लिहित्ताणं' आत्मानं सल्लेख्य ॥२०२६॥

गा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे इंगिनीमरणका विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्तप्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणको यथायोग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिंगसे लिंगकी सूचना की है। और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसको यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने गणको इंगिनीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने मनमें निश्चय करे कि मैं इंगिनीमरणको धारण करूँगा। फिर शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरोहण करके उसकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोंको कृश करे ॥२०२६॥

परिग्गहगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स ।
तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥२०२७॥

'परिग्गहगमालोचिय' क्रमेण रत्नत्रयातिचारमालोच्य । 'अणुजाणित्ता' अनुज्ञाप्य । 'दिसं' गणधरं । 'महजणस्स' महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । 'तिविधेण खमावित्ता' त्रिविधेन क्षमां ग्राहयित्वा । सबाल-वृद्धाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसट्ठिं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।
अब्भुदिगआदहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥२०२८॥

'अणुसट्ठिं दादूण य' शिक्षां दत्वा गणपतेर्गणस्य च । 'जावज्जीवाय विप्पओगच्छी' यावज्जीवं विप्र-योगार्थी । 'अब्भुदियआदहासो' कृतार्थोऽस्मीति जातहर्षः । 'णीदि गणादो' निर्याति यतिगणात् । 'गुणसमग्गो' सम्पूर्णगुणः ॥२०२८॥

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं व थंडिले जोगे ।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

'एवं च णिक्कमित्ता' एवं विनिष्क्रम्य । 'थंडिले जोगे' समे समुन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये । 'अंतो बाहिं व' अंतर्बहिर्वा । 'पुढवीसिलामए वा' पृथ्वीसंस्तरे शिलामये वा । 'अप्पाणं णिज्जवे एक्को' आत्मानं निर्वहेद् देहसहाय[1] ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥२०३०॥

'पुव्वुत्ताणि तणाणि य' पूर्वोक्तानि तृणानि निस्संधि निश्छिद्रजन्तुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-त्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य याच्ञया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ सालोकः

गा०—रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य-की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे। तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोंसे भरे अपने गच्छको शिक्षा देकर जीवनपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप संस्तर पर या शिलामय सस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०-टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित, जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने चाहियें उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

---

1. देहसहायः आ० मु० ।

विस्तीर्णो विध्वस्तः असुषिरोऽविलः निर्जन्तुकस्तस्मिन्स्थण्डिले । 'जदणाए संथरित्ता' यत्नेन संस्तरं कृत्वा । यत्नः ? तृणाना पृथक्करणं संस्तरभूमिप्रतिलेखनं, 'उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं संथारं संथरित्ता य' पूर्वोत्तमाङ्गमुत्तरोत्तमाङ्ग वा स्स्तरं संस्तीर्य शिरःप्रभृति कायं पादौ च यत्नेन प्रमार्ज्य ॥२०३०॥

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।
सीसे कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचीणाभिमुखो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र सस्थित्वा । 'सीसे कदंजलिपुडो' मस्तके न्यस्तकृताञ्जलिः । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विशुद्धलेश्यासमन्वितेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअंतिगं तो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥२०३२॥

'अरहादिअंतियं' अर्हदाद्यन्तिकं । 'तो' पश्चात् आलोचनां कृत्वा सुपरिशुद्ध 'दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण' दर्शनज्ञानचारित्राणि संस्कृत्य निरवशेषं ॥२०३२॥

सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ।
वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गंथे ॥२०३३॥

सर्वं आहारविधि सर्वं आहारविकल्प । यावज्जीवं परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परिग्रहांश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सव्वे विणिज्जिणंतो परीसहे धिदिबलेण संजुत्तो ।
लेस्साए विरुज्झंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता ॥२०३४॥

'सव्वे विणिज्जिणंतो' सर्वान् जयन् परिषहान् धृतिबलसमन्वितः लेश्याभिर्विशुद्धः सन् धर्मध्यान [illegible] ॥२०३४॥

फैला देता है। वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये। [illegible] ऐसा होना चाहिये जिसमें सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाकी ओर रहे। [illegible] शरीरका सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरकी ओर मुख करके [illegible] है और हाथोंकी अंजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध [illegible] अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और [illegible] निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—[illegible] आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा [illegible] और बाह्य परिग्रहका त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—[illegible] परीषहोंको जीतता है और [illegible] करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं ।
सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०३५॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ॥२०३६॥

जाधे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि विगदभओ ॥२०३७॥
आदितियगुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ।
जिदकरणो जिदणिद्दो ओघबलो ओघसूरो य ॥२०३८॥

'ठिच्चा' स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारं करोति । स्वमेवात्मनः करोत्याकुञ्चनादिका क्रिया उच्चारकादिकं च निराकारोऽति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः । 'यदि पुण उवसग्गा' यदा पुनरुपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभयः । 'आदितियगुसंघडणो' आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरां शूरः ॥२०३५-२०३८॥

बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभमं कुणइ ॥२०३९॥

'बीभत्थभीमदंसणविगुव्विदा' बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वन्ति तथाप्यसौ न संभ्रमं करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ।
[1]लोलंति जदिवि तगं तधवि ण सो विम्भयं जाई ॥२४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पार्श्वसे शयन करते हुए धर्मध्यान करता है। तथा उपसर्गरहित दशामें स्वयं ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-पैरोंका संकोचन, फैलाना आदि करता है। स्वयं ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शौच आदि करता है॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है॥ क्योंकि उसके आदिके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है, समचतुरस्र संस्थान होता है। न भेदने योग्य धैर्यरूपी कवच होता है। वह इन्द्रियों और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है। महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयंकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

---

१. लालेंति —मूलारा० ।

'इहलोगे परलोगे' इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितदुःखपरिश्रमः धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं ।
सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियट्टणपुच्छणाओ' वाचनां, परिवर्तनं, प्रश्नं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थस्य वा स्मरत्येकचित्तः ॥२०४६॥

एवं अट्ठवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्झादि एयमणो ।
जदि आघच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

'एवं अट्ठवि जामे' एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येव चित्तः, यद्याहत्य निद्रा भवेत् तत्र अप्रतिज्ञो ॥२०४७॥

सुज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण सति किरियाओ ।
जम्हा मसाणमज्झे तस्स य झाणं अपडिसिद्धं ॥२०४८॥

'सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका. क्रिया न सन्ति यस्मात् श्मशानमध्येऽपि तस्य ध्यानं न प्रतिषिद्धं ॥२०४८॥

आवासगं च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणंपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

'आवासगं च कुणदे' आवश्यकं च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोंमेंसे वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर वह अस्वाध्यायकालमें भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है। अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठो पहरोंमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान करता है। यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होता है और न उन्हें प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है। उनके लिये श्मशानमें भी ध्यान करना निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमें जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और सावधानता पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

पण्डितमरणं । एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्यावर्णितं, बालपण्डितमरणमित ऊर्ध्वं संक्षेपेण ॥२०१७-२०७१॥

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।
तं होदि बालपंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं ॥२०७२॥

'देसेक्कदेसविरदो' सकलासंयमप्रत्याख्यानासमर्थः हिंसादेकदेशाद्विरतः स्थूलभूतप्राणातिपातादि-पञ्चकाद्देशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः सम्यग्दृष्टिर्यो म्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पंच य अणुव्वदाइं सत्तय सिक्खाउ देसजदिधम्मो ।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पंच य अणुव्वदाइं' पञ्चाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतिधर्मः । तेन समस्तेन धर्मेण युक्तः स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युक्तोऽपि देशयतिरेव । द्वादशविधगृहिधर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥२०७३॥

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥२०७४॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०-टी०—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं। और जो देशविरतिके भी एक देशसे विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है। इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्मका पालक श्रावक होता है, उसके मरणको जिनागममें बालपंडितमरण कहा है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते है—

गा०—पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये देशसंयमी श्रावकका धर्म है। जो उस सम्पूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

आगे बारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध है—

गा०—हिंसा, असत्य, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरिमाण इनसे विरतिरूप पाँच अणुव्रत हैं ॥२०७४॥

गा०—दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य ।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बन्धुभिर्वा न मुक्तः पश्चिमसल्लेखनाम् अकृत्वा कृतालोचनो निश्शल्यः स्वगृह एव संस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६-७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु संथारं ।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं ॥२०७८॥
जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो ।
सो चेव बालपंडिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥२०७९॥
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
इय बालपंडियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठं ।
एत्तो पंडिदपंडिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था त्रयो गाथाः । बालपण्डितं ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोंके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोंकी आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमें ही संस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यसे मुक्त होकर अपने घरमें संस्तरपर आरूढ़ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह श्रावक मरकर नियमसे सौधर्मादि कल्पोंमें उत्पन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिकसे अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अर्हन्त भगवान्‌के धर्ममें बालपण्डित कहा है। आगे संक्षेपसे पण्डितपण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि ।
ज्झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठुकामो खवगसेढिं ॥२०८२॥

'साहू जहुत्तचारी' शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्त्वाप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकामः ॥२०८२॥

ध्यानपरिकरं बाह्यं प्रतिपादयति—

सुचिए समे विवित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए ।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥२०८३॥

'सुचिए समे' शुचौ समे एकान्तदेशे निर्जन्तुके अनुज्ञाते तत्स्वामिभिः ऋज्वायतदेहः पल्यङ्कमचलं बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ।
सम्मं अधिट्ठिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणादिगं' वीरासनादिकमासनं बद्ध्वा समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्तः ॥२०८४॥

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाणं विसुद्धलेस्साओ ।
पवयणसभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुव्वभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्यः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमतिः मोहनीयं क्षयं नेतुमुद्यतः ॥२०८५॥

संजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढमं ।
मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'संजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथमं मिथ्यात्व,

---

गा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमें, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमें शरीरको सीधा रखते हुए पल्यंकासन बांधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनों पैरोंको समरूपसे रखते हुए खड़े होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एक करवटसे लेटकर पूर्वमें कही विधिके अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमें तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोंका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३-२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका क्षय

म्यङ्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतिसप्तकं विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणा-
समुद्योऽध प्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥२०८७॥

'अध खवगसेढिमधिगम्म' अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ। किं तदपूर्व-
करणमित्याशङ्कायामुच्यते । 'होदि तमपुव्वकरणं' भवति तदपूर्वकरणं, 'कदाइ अप्पत्तपुव्वंति' कदाचिदप्राप्त-
पूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवम गुणठाणयं च अधिगम्म ।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥२०८८॥

'अणियट्टिकरणणामं णवमं गुणठाणमधिगम्म' अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य 'णिद्दाणिद्दा पयलापयला'
निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्विं णिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ।
साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

'णिरयगदियाणुपुव्वि' नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगतिं, स्थावरं, सूक्ष्म, साधारणं, आतपं, उद्योतं
तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक
सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें अधः प्रवृत्तकरण करता
है ॥२०८६॥

टी०—अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं। उसके साथ बन्धनेसे
अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं। मिथ्या पदार्थोंके अभिनिवेश-
में जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है। जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्ध-
शुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं। और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा
स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं। इसके उदय रहते हुए भी
तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमें ही
होता है। और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण
करता है। उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी पहले
गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

गा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके
निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

इगविगतिगचदुरिंदियणामाइं तध तिरिक्खगदिणामं ।
खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कसाए ॥२०९०॥

'इगविग' एकद्वित्रिचतुरिंद्रियजातीः, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्कं, प्रत्याख्यानचतुष्कं च क्षपयति ॥२०९०॥

तत्तो णपुंसगित्थीवेदं हासादिछक्कपुंवेदं ।
कोधं माणं मायं लोभं च खवेदि सो कमसो ॥२०९१॥

'तत्त णपुंसं' ततो नपुसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्यादिषट्कं, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमाया-क्षपयति । पश्चाल्लोभसंज्वलनं ॥२०९१॥

अध लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायत्तं ।
पावदि पावदि य तधा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥२०९२॥

'अध लोभसुहुमकिट्टिं' अथ पश्चाद्बादरकृष्टेरुत्तरकाले लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमानः । 'सुहुमसंपरायत्तं पावदि' सूक्ष्मसांपरायतां प्राप्नोति । 'पावदि य तधा' प्राप्नोति च तथा तन्नामकं संयमं शुद्धं सूक्ष्मसांपरायतां अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ।
एय[1]त्तवितक्कावीचारं तो ज्झादि सो ज्झाणं ॥२०९३॥

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमें नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और संज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है। अन्तमें सज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकषायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है। पुरुषवेदको क्रोध सज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है। इसी प्रकार क्रोध सज्वलनको मान संज्वलनमें मानसंज्वलनको माया सज्वलनमें और माया सज्वलनको लोभसज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है। अन्तमें बादर कृष्टिके द्वारा लोभसज्वलन को कृश करके सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९१॥

गा०—बादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करता हुआ दसवें सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

---

1. एयत्तं सवियक्कं अविचारं सो उर्हि झादि-अ० आ० ।

'तो सो खीणकसाओ जायदि' ततः सूक्ष्मसंपरायत्वादनंतरं 'खीणकसाओ जायदि' क्षीणकषायो जायते। 'खीणासु लोभकिट्टीसु' संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणासु। 'तो' ततः 'एकत्तवित्तक्कावीचारझाणं तो झादि' एकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं ध्याति ॥२०९३॥

झाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि।
सेसा घादिकम्माणि [1]समं अवरंजणाणि तदो ॥२०९४॥

'झाणेण य तेण' तेन ध्यानेन। 'तो' तेनैकत्ववितर्काविचारेण यथाख्यातेन चारित्रेण शेषघातिकर्माणि समकालमेव क्षपयति। 'अवरंजणाणि' जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जधा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो।
कम्माणि तधा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जधा हदाए' मस्तकसूच्यां यथा हतायां। 'कसिणो तालो हदो भवति' कृत्स्नस्तालद्रुमो हतो भवति। 'कम्माणि तधा' कर्माण्यपि तथैव 'खयं गच्छंति' क्षयमुपयांति। 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हते कृत्स्ने ॥२०९५॥

णिद्दापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंति।
सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥२०९६॥

'णिद्दा पचला य दुवे' निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषायस्य उपान्त्यसमये नश्यतः। 'सेसाणि घादिकम्माणि' अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यंति, पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्परायके पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है। वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष घातिकर्मोंका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताड़के वृक्षकी मस्तक सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताड़वृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उस क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती है। और शेष घातिकर्म—पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय अन्तिम समयमें नष्ट होते हैं ॥२०९६॥

1. समरमव-मू०, मूलारा०।

ततो ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् अनन्तरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूप-परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादिशयान्न भवति । केवलं इन्द्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभावात् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अव्वाबादमसंदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं ।
एयं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

'अव्वाबाधं' न विद्यते ज्ञानान्तरेण व्याघातो बाधास्येत्यव्याघातं । निश्चयात्मकत्वादसंदिग्धं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिव केवलं साध्यत इति । 'असंकुडिदं' न मत्यादिवदल्पविषयमिति । 'एकं' एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । 'सकलं' सम्पूर्णमात्मनःस्वरूपमिति । मत्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं । 'अणंतं' अनन्तप्रमाणावच्छेद्यं । 'अणियत्तं' न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्तं केवलज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो ।
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥२०९९॥

'चित्तपडं व विचित्तं' चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । 'तिकाल सहिद' कालत्रयसहितं 'जगमिदं', ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्नं 'सर्वतः' समंतात् ॥२०९९॥

वीरियमणंतरायं होइ अणंतं तधेव तस्स तदा ।
छदुमत्थादीदस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०–टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है। वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है। वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है। इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है। केवलका अर्थ है असहाय। केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है। तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है। व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता। निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है। श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है। सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है। तथा एक आत्मामें स्वयं ही होनेसे एक है। सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है। जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह यह सम्पूर्ण नहीं है। अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है। अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता। विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र-नानारूप है। उस केवलज्ञानसे वह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्व अलोकको एक साथ जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—छद्मस्थ अवस्थासे रहित उस महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

१. सव्वण्हू –आ० ।

जेसिं आउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जेसिं आउसमाइं' येषामपि आयुःसमानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्घाता एव शैलेश्यं प्रतिपद्यन्ते ॥२१०४॥

[1]जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।
ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०५॥
ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसि तेसि कम्माणं ।
अंतोमुहुत्त सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसंतकम्म' सत्कर्मणां स्थितिं समीकर्तुं चतुर्णां अंतर्मुहूर्तविशेषे आयुषि समुद्घातं यांति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जह लहु विणिव्वादि ।
संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥२१०७॥

'ओल्लं संतं' आर्द्रं यथा वस्त्रं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्मापि ज्ञातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ।
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥२१०८॥

ठिदिबधस्स' स्थितिबन्धस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति। समुद्घाते गते 'सडति' च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारों कर्मोंकी स्थिति समान करनेके लिये समुद्घात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गीला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता। कर्मोंकी भी वैसी ही दशा जानना। आत्म प्रदेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्घात करनेपर स्थितिबन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है। और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मोंकी स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

---

1. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

चदुहिं समएहिं दंड-कवाड-पदरजगपूरणाणि तदा ।
कमसो करेदि तह चेव णियत्तीदि चदुहिं समएहिं ॥२१०९॥

'चदुहिं' चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥२१०९॥

काउणाउसमाइं णामागोदाणि वेदणीयं च ।
सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

'काऊण' नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥
योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवाचिगजोगं बादरकायेण बादरमणं च ।
बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥२१११॥

तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।
रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'तध चेव' तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे ।
काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोंमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण [illegible] करके [illegible] चार ही समयोंमें उसका सकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमें दण्डाकार, [illegible] समयमें [illegible], तीसरे समयमें प्रतर रूप और चौथे समयमें समस्त लोकमें व्याप्त [illegible] है। पांचवें समयमें पुन प्रतररूप, छठे समयमें कपाटरूप, सातवें समयमें दण्डाकार [illegible] आठवें समयमें मूल शरीराकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति आयुके समान करके मुक्तिको [illegible] सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमें स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते हैं। सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर [illegible] सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं ॥२११२॥

१. [illegible] —आ० । [illegible] —मु० ।

सूक्ष्मया लेश्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदासौ सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥२११३॥

सुहुमकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकायजोगे वि ।
सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

'सुहुमकिरियेण' तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबन्धको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥२११४॥

माणुसगदिपज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकित्तिं ।
अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥२११५॥

'माणुसगदि' मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातिं, पर्याप्तिमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीयं, त्रसबादरं, उच्चैर्गोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होदूण चेव तक्कालं ।
तित्थयरणामसहिदो ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी सो ।
उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु झाणं अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिय देहत्रिबन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ।
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगसे वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा [सूक्ष्]मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह [शी]लोंका स्वामी होता है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेसे उन्हे कर्मबन्धन नहीं होता, [क्यों]कि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, [सुभ]ग, यशःकीर्ति, साता या असातावेदनीय, त्रस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह [कर्म] प्रकृतियोंके उदयका भोग करते हैं। और यदि तीर्थंकर होते हैं तो तीर्थंकर सहित बारह [प्रकृ]तियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके [बन्]धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका [दूस]रा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

१.–दो जादो जो वेदि तित्थयरो –आ०, अ०।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होदि उड्ढगदी।
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२१२४॥

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव।
पावदि जयस्स सिहरं खिप्पं कालेण य फुसंतो ॥२१२५॥

'सो सो अविग्गहाए' वक्रोऽभावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतशिखरं प्राप्नोति ॥२१२५॥

एवं इहइं पजहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुवगम्म।
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥२१२६॥

'एवं इहइं' एवमिह देहत्रिकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः स्वभावस्थः ॥२१२६॥

तस्याधःस्थानमाचष्टे—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥॥२१२७॥

'ईसिप्पब्भाराए' ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचलं स्थानं लोकशिखरमास्थितः सिद्धः ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मोंका क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोड़े रहित गतिसे सात राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोंका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमें तैजस, कार्मण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सब प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव स्वभावमें स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवीं पृथिवीको कहते हैं—ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवीं पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है। मध्यमें उसका बाहुल्य आठ योजन है। दोनों ओर क्रमसे हीन होता गया है। अन्तमें अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है। इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उसका आकार है। उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। उसके ऊपर तीन वातवलय हैं। उनमेसे तीन

'कज्जाभावेण पुणो' कार्याभावेन तत्स्पंदनं नास्ति तस्य न च परप्रयोगगतमपि स्पंदनमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढो ।
सो' उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमणंत' अनन्तकालं अधर्मास्तिकायोपगृहीतः गगनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । 'उवकारो इट्ठो' अधर्मास्तिकायेन संपाद्यउपकारः अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्यादिवत् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जगं णिरवसेसं ।
सव्वेहिं पज्जएहिं य संपुण्णं सव्वदव्वेहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमत्थयत्थो' त्रैलोक्यमस्तकस्थः ततोऽसौ जगन्निरवशेषं सर्वैःपर्यायैस्सर्वैर्द्रव्यैस्संपूर्णं ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा चालोकमशेषं पश्यति भगवान् विगतमोहः ॥२१३५॥

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे सगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं युगपत्केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।
बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं। अतः वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होता ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोको अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकायका माना गया है, क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

गा०—तीनों लोकोके मस्तकपर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं। तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों कालोंको और समस्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

---

१. उवकारो इट्ठो ज ठि –अ० आ० ।

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥२१४२॥

'देविंदचक्कवट्टी' देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिंद्रियसुखमनुभवंति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥२१४२॥

अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥२१४३॥

'अव्वाबाधं सुहं' अव्याबाधात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवंति तस्यानंतभागो भवति तदिंद्रियसुखं पूर्वव्यावर्णितम् ॥२१४३॥

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो वि अणंतगुणं अव्वाबाहं सुहं तस्स ॥२१४४॥

'जं सव्वे देवगणा' यत्सुखमनुभवंति साप्सरोगणाः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्याव्याबाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ।
सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

'तीसु वि कालेसु' त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरश्चां, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ।
ण हु अत्थि रागमब्भइत्थिदूण[1] किं चि वि सुहं णाम ॥२१४६॥

'ताणि रागविपाकाणि' तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्वं

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा रहित सुख सिद्धोंको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यों तिर्यञ्चों और देवोंको तीनों कालोंमें जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अतः

---

1. मवउज्झिऊण —अ० आ० । अवहत्थिदूण —मूलारा० ।

नामेंद्रियसुखानां दोषोऽभिहित. । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमंतरेण अशनादिकं प्रीतिं जनयति । न चास्ति रागमन्तराकृत्य सुखं नाम किंचित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिन्द्रियसुखं व्यावर्णयति—

अणुवममम्मेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च ।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥२१४७॥

'अणुवममम्मेयं' तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपमं, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावादक्षयं, रागादिमलाभावादमलं, जरारहितत्वादजरं, रोगाभावादरुजं, भयाभावादभयं, भवाभावादभवं, ऐकांतिकं दुःखस्य सहायस्याभावादैकांतिकमसहायं अव्याबाधरूपं तत्सुखं ॥२१४७॥

विसएहिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।
रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥२१४८॥

'विसएहिं से ण कज्जं' शब्दादिभिर्विषयैर्न कार्यं यतः सिद्धस्य न सन्ति क्षुधादिका बाधाः, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सन्ति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचंकमणचिंतणादीणं ।
चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥

'एदेण चेव भणिदो' एतेनैवोक्तः भाषण-चंक्रमण-चिंतनादीनां चेष्टानामभावः सिद्धे हृतसर्वक्रिये ॥२१४९॥

[illegible] है तथा दुःखपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दुःख होता है तब वह सुख होता है [illegible] बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते। रागभावके बिना [illegible] भी सुख नहीं है ॥२१४६॥

[illegible] अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

[illegible] समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है। [illegible] उसका माप करना अशक्य होनेसे अमेय है। उसके विरोधी [illegible] है—उसका कभी नाश नहीं होता। उसमें रागादिमलका अभाव [illegible] है। [illegible] नष्ट न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे [illegible] है। पुनर्जन्म न होनेसे अभव है। उसके साथमें दुःख न [illegible] है—ऐसा वह अव्याबाधरूप सुख होता है।

[illegible] प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोंको भूख प्यास आदि [illegible] नहीं है ॥२१४८॥

[illegible] सिद्धोंमें बोलना, चलना फिरना तथा [illegible] नहीं है ॥२१४९॥

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धदाविरियदिट्ठिणाणेहिं ।
अच्चंतिगेहिं जुत्तो अव्वाबाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

'इय सो खाइय' एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनन्तज्ञानाद्यनंतदर्शनेन चात्यन्तिकेन युक्तोऽव्याबाधेन सुखेन ॥२१५०॥

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।
अचलत्तमलेवत्तं च हुंति अच्चंतियाइं से ॥२१५१॥

'अकसायत्तं' अकषायत्वं, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्वं च आत्यन्तिकं तस्य भवति। क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चाऽभावादकषायत्वमात्यन्तिकं एवमेवावेदत्वं। साध्यस्यापरस्याभावादकारकत्वं। प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहान्तरकारिणःकर्मणोऽभावाद्विदेहतया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तान्तराभावादचलत्वं। कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरकिलेससोगवीचीयं ।
इय संसारसमुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥२१५२॥

'जम्मणमरणजलोघं' जन्ममरणजलौघं दुःखसंक्लेशशोकवीचिकं संसारसमुद्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रतपस्समन्वितचतुरङ्गनावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करंति सव्वदुक्खाणं ।
अंतं णिरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार वह सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्याबाध सुखसे युक्त होते हैं। ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

गा०-टी०—क्रोध आदिमें निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें आत्यन्तिक अकषायत्व है। इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है। उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है। पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोंमें सदा विदेहता है। अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमें निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल हैं। उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

गा०—जिसमें जन्म मरणरूपी जलका समूह भरा है, दुःख संक्लेश और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं; उस संसाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

आराधणं असेसं निरवशेषामाराधनां वर्णयितुं कस्समर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेषं न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१५९॥

'अज्जजिणणंदि' आचार्यजिननन्दिगणिन., सर्वगुप्तगणिन , आचार्यमित्रनंदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं चावगम्य ॥२१५९॥

पुव्वायरियणिवद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६०॥

'पुव्वायरिय' पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इय आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणिदलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

'छदुमत्थदाए' छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविरुद्धं निबद्धं (विरुद्ध) भवेत् तत्सुगृहीतार्था शोधयतु प्रवचनवत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥२१६२॥

'आराधणा भगवदी' आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सर्वगुप्तगणिनः संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुलां सकलजनप्रार्थनीया अव्याबाधसुखां सिद्धिं प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुप्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यक्रूपसे आगमके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्तपुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थकी रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो; उसे आगमके अर्थको सम्यक्रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानीजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुप्त गणीके संघको तथा रचयिता शिवार्यको समस्त जनोंसे प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उसके प्रसादसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

पृ०	गा०
१९	४५८
८२	६५९
४८	२२९
६५	१२१
५९	१९५४
१०९	१५५०
१५२	१०८१
७५५	१६९७
७९१	५३४
८२२	१८३८
४५७	७१२
३०५	३८०
५२०	९०१
२४०	२१८
८१३	५९४
४७२	७५४
५२०	९००
७३३	१६२८
८३	४५
४६८	७८३
२८५	३१९
४०१	५६०
८७८	२०३२
१०५	६६
५३६	९६३
५०६	८८१
७३८	१४८८
७६५	१७१९
१२१	८६
७५५	१६९९
७८९	१६८९
३०१	३६६
२६१	२६०
८३८	१८८०

गाथानुक्रमणिका

पृ० गाथा

झ

झाणं करेइ खवयस्सो ८४१ १८८८
झाणं कसायडाहे ८४२ १८९३
झाणं कसायपरचक्क ८४२ १८९४
झाणं कसायरोगेसु ८४२ १८९५
झाणं कसायवादे ८४२ १८९२
झाणं किलेससावद ८४२ १८९१
झाणं पुधत्तसवितक्क ८३४ १८७२
झाणं विसयछुहाए ८४२ १८९६
झाणागदेहि इंदिय ६७० १३९३
झाणेण य तह अप्पा ८९८ २१२३
झाणेण य तेण अधवखा ८९२ २०९४
झायंतो अणगारो ८५२ १९४१

ठ

ठाणगदिपेच्छिदुल्ला ५६४ १०८५
ठाणा चलेज्ज मेरु ६९३ १४८३
ठिच्चा णिसिदित्ता वा ८७९ २०३५
ठिदि-गदि-विलास-विब्भम ५६३ १०८३
ठिदियधस्स सिणेहो ८९५ २१०८
ठिदि संतकम्म समकर ८९५ २१०६

ड

...ज्झदि अंतो पुरिसो ५८२ ११५०
...ज्झदि पंचमवेगे ५१८ ८८८
...हिऊण जहा अग्गी ८२५ १८४५
...गएहिं बहुगेहिं ६७१ १४२९

ण

...रेज्ज मारण वारण ३३६ ४२८
...रिदि भावणाभाविदो ६१२ १२०६
...ति णिव्वुइं ७२१ १११०
...जह दुवारं ६५५ ७३५
...च्छदि ६६२ १३६०
...रतमउ य ६३० १२३६
...ट्टिज्जं ८७८ २०१४
...ट्टिज्जं ८७८ २०१३

णट्ठचलवलियगिहिभास ४१७ ६...
ण डहदि अग्गी सच्चेण ५०४ ८...
ण तहा दोगं पावइ ७३५ १६३...
णत्ताभाए रिक्खे ८६५ ११८...
णत्थि अणूदो अप्पं ४८५ ७८३
णत्थि भयं मरणसमं ७४२ १६६४
णाणादेसे कुसलो ११२ १५०
ण परीसहेहि संताविदो वि ७५४ ...
ण णियंति सुरां ण य ७०४
ण य जायंति अगंता ३०१
ण य तम्मि देसयाले ४७९
ण य परिहायदि कोई ६६५ १...
ण य होदि संजदो ५७४ ११...
ण लहदि जह लेहंतो ६२१ १२...
णवमम्मि य जं पुव्वे ४१४ ५१...
णवमे ण किंचि जाणदि ५१८ ८८१
णवरि हु धम्मो मेज्झो ८०८ १८१६
णवरि तणसंथारो ८८३ २०५८
ण वि कारणं तणादो ७४३ १६६७
णस्सदि सग्गं पि बहुगं ६५५ १३३०
ण हि तं कुणिज्ज सत्तू ६६१ १३८९
ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स ८२४ १८४४
ण हु सो कडुगं फरुसं ६९९ १५०६
णाऊण विकारं ६९५ १४९३
णाणपदीओ पज्जलइ ४७७ ७०६
णाणम्मि दंसणम्मि य २७१ २८८
णाणम्मि दंसणम्मि य २७१ २८९
णाणम्मि दंसणम्मि य ८५० १९३०
णाणस्स केवलीणं २२२ १८१
णाणस्स दंसणस्स य सारो ३१ ११
णाणं करणविहूणं ६३८ ७६१
णाणं करेदि पुरिसस्स ६१४ ११११
णाणं दोगे णासिदि ६१८ ११...
णाण पयासओ मो ४७८ ७१
णाणं पि कुणदि दोमे ५५८ १११

■

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

न

प

त

द

न

प

त

द

न

प

त

द

न

प

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

पृ०